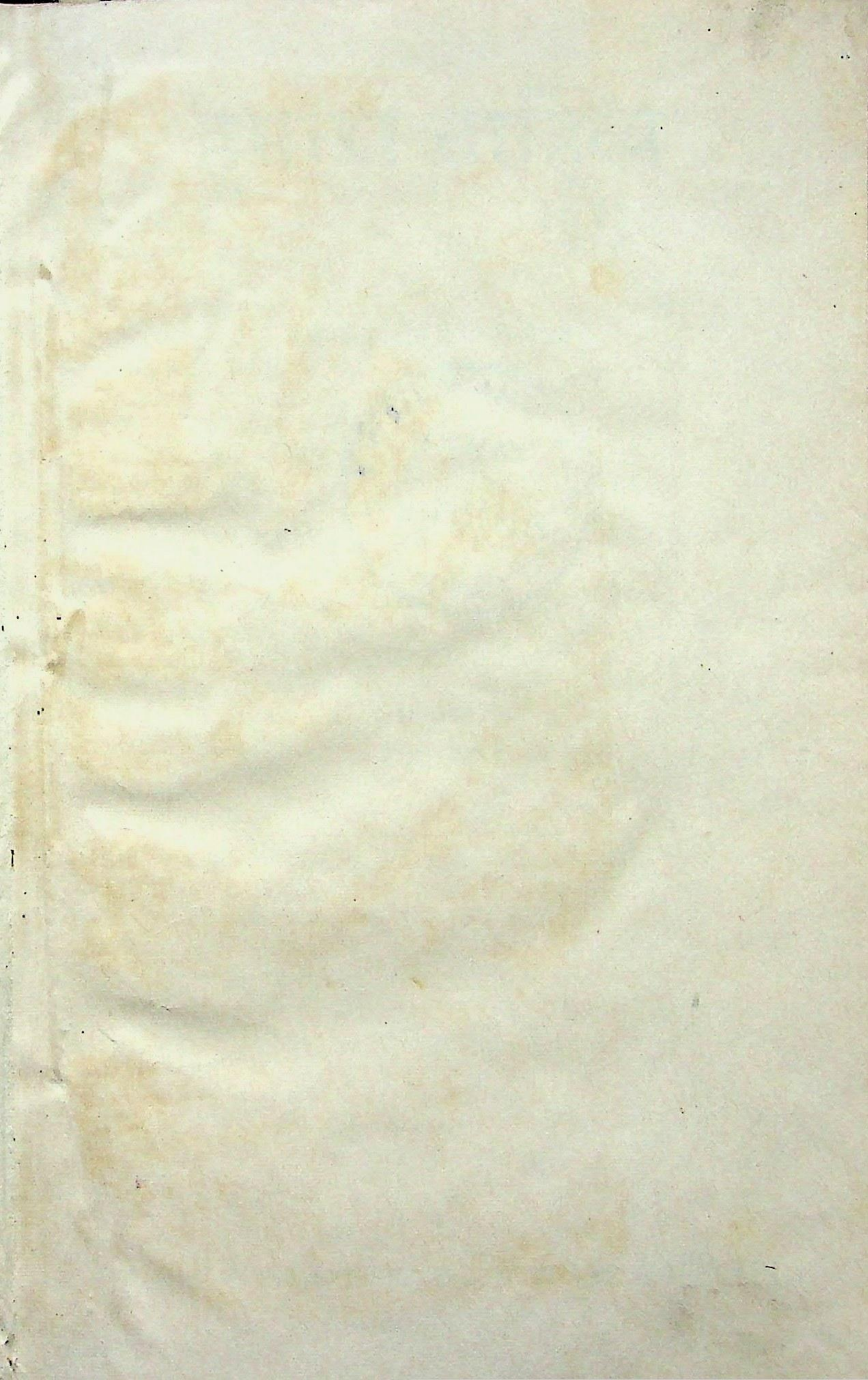
हमारा साहित्य

1977



जे. एण्ड के ...डमी ऑफ़ आर्ट कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू



हमारा साहित्य

1977

[जम्मू-कश्मीर में हिन्दी लेखन]

सम्पादक

रमेश मेहता

. एण्ड के. अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़ जम्मू



सचिव द्वारा जे. एण्ड के. अकादमी ऑफ आर्ट,
कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू के लिए प्रकाशित।

●

अमर आर्ट प्रेस,
मोती बाज़ार, जम्मू में मुद्रित।

●

प्रकाशन व्यवस्था : विजय सूदन

मूल्य :

अनुक्रम

जम्मू प्रदेश में हिन्दी भाषा तथा साहित्य का वह अतीत युग

—डॉ० गंगा दत्त शास्त्री 'विनोद' 1

जम्मू के हिन्दी कवियों पर फ्रॉयड का प्रभाव

—चंचल डोगरा 17

जम्मू की हिन्दी कहानी में अस्तित्ववाद

—डॉ० अनिल गोयल 26

सेतुओं की खोज का कवि—ओम प्रकाश गुप्त

—डॉ० रतन लाल शान्त 33

अराजकता के विरुद्ध जम्मू की हिन्दी कविता

—दीदार सिंह 41

कविता जो साक्षी है

—डॉ० ओम प्रकाश गुप्त 53

जम्मू की हिन्दी कहानी की संरचनात्मक पड़ताल—
'अधूरी कहानी का हीरो' के माध्यम से

—डॉ० वेद कुमारी घई 60

कहानीकार डॉ० अयूब प्रेमी

—डॉ० सोमनाथ कौल 66

जम्मू-कश्मीर में हिन्दी नाटक साहित्य और लोक-मंच

—ज्योतीश्वर पथिक 72

जम्मू की हिन्दी कहानी में वर्ग चेतना

डॉ० आदर्श 78

जम्मू की हिन्दी कविता

—डॉ० सुभाष भारद्वाज 83

आरम्भ

जम्मू-कश्मीर में हिन्दी लेखन की यह विडम्बना रही है कि यहां जो भी लिखा गया उस में से अधिकांश प्रकाशन की सुविधा से वंचित रहा। इसके अतिरिक्त जो साहित्य पुस्तकों अथवा पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आया उसकी वितरण व्यवस्था कुछ ऐसी थी कि उस तक एक सामान्य पाठक की पहुँच नहीं के बराबर रही है। अतः आज किसी एक विधा अथवा साहित्यकार के समग्र आकलन की दृष्टि से कोई ठोस काम कर सकने का दावा बोदा प्रमाणित हो रहा है। प्रस्तुत अंक के सम्पादन में हमें इस का कटु अनुभव हुआ है। विद्वान लेखकों ने दिए गए विषयों पर अधिकारपूर्ण ढंग से अपने विचार व्यक्त करने के हेतु वांछित सामग्री की खोज आरम्भ की तो उन्हें अनुभव हुआ कि यह काम इतना आसान नहीं है। समय की सीमा को ध्यान में रख कर वे जो कुछ जुटा पाये उसी के आधार पर उन्होंने प्रस्तुत अंक के लिए लेख प्रेषित किए हैं—अतः इन में जो प्रामाणिकता आप को दृष्टिगत होगी—वह सीमित संदर्भों की प्रामाणिकता है। ये विद्वान प्रशंसा के

अधिकारी हैं कि अल्प सामग्री के आधार पर इन्होंने गहन-गंभीर विषयों का विवेचन करते हुए जम्मू-कश्मीर में लिखे जा रहे हिन्दी साहित्य के विविध पक्षों को उद्‌घाटित किया है। इस अंक में संकलित अधिकांश निबन्ध जम्मू की साहित्यिक उपलब्धियों को रेखांकित करते हैं...इस के पीछे हमारा कोई पूर्वाग्रह नहीं था अपितु सामग्री की अनुपलब्धता ही थी।

हमारा प्रयत्न रहेगा कि भविष्य में इस प्रकार की अनियमितता न होने पाये। इस के लिए हमें 'घाटी' के हिन्दी साहित्यकारों का सहयोग दरकार है। हमें विश्वास है कि वे हमें निराश नहीं करेंगे।

—रमेश मेहता

जम्मू प्रदेश में हिन्दी भाषा तथा साहित्य का वह अतीत युग

—डॉ० गंगादत्त शास्त्री 'विनोद'

जम्मू प्रदेश में हिन्दी साहित्यकारों और प्रचारकों की परम्परा अति प्राचीन काल से चलती आ रही है। यहां ऐसी अनेक प्रतिभाएं जन्म लेकर हिन्दी-क्षेत्र के अन्दर अपना नाम अंकित कर गई हैं जो आज साहित्याकाश में उपेक्षित नक्षत्रों जैसी बन गई हैं। अपने समय में भले ही वे जाज्वल्यमान थीं किन्तु आगामी समय की पर्तों ने उन्हें अवश्य दबा लिया। आज समय आया है जब इन जम्मू की उपेक्षित हिन्दी प्रतिभाओं के प्रति नई पीढ़ियां अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाएं।

यदि इस प्रदेश में हिन्दी प्रचार-प्रसार और लेखन का पूरा लेखा-जोखा जुटाया जाये तो बात लगभग दो सौ साल पीछे जा टिकती है। क्योंकि वह समय जम्मू के प्रसिद्ध हिन्दी कवि दत्तू का है। यहां से इस प्रदेश के हिन्दी साहित्य लेखन की शृंखला का क्रमिक इतिहास जुड़ता चला जाता है, जो भारतेन्दु युग तथा द्विवेदी युग को लांघता हुआ आधुनिक काल तक पहुंचता है।

किन्तु इतने लम्बे काल का ब्योरा न देकर केवल १९४७ के पूर्व के तीन दशकों में यहां हिन्दी-क्षेत्र में जो प्रचार-प्रसार तथा लेखन-कार्य हुआ, उसी का यथासंभव विवेचन दे देना प्रस्तुत लेख का उद्‌देश्य है क्योंकि इस समयावधि में ही जन-चेतना के आधार पर हिन्दी का जो नया मंच देश भर में तैयार हुआ उसी का प्रतिरूप इस प्रदेश में भी विकसित हुआ जिससे केवल हिन्दी साहित्य लेखन के स्थान पर हिन्दी प्रचार की धारा भी साथ फूट निकली, जिस पर जन-जागृति और हिन्दी आन्दोलन की गर्म लहर का प्रभाव था। अंग्रेजी के सार्वभौम वर्चस्व ने जब हिन्दी जैसी अखिल भारतीय भाषा को दबा लिया तो निश्चित ही

जन-जन में मातृभाषा प्रेम उमड़ पड़ा, जिससे स्वतन्त्रता-प्राप्ति-आन्दोलन के साथ यह लहर भी जुड़ गई। सन् १९२० से १९४७ तक यह आन्दोलन देशव्यापी हो चला था। जम्मू में भी इस आन्दोलन की लहर इसी समय पहुँची जिस से यहां परम्परा से आती हुई हिन्दी साहित्य-लेखन धारा के साथ-साथ हिन्दी प्रचार धारा भी बहने लगी। इस धारा के अन्दर जिन हिन्दी सेवकों ने स्वार्थ त्याग करते हुए हिन्दी का पक्ष लिया और जीवन भर इसी क्षेत्र में कार्य किया आज नई पीढ़ी और नये युग के समक्ष उनकी स्मृति ही शेष बची है किन्तु उनका त्याग और निर्माण ही हिन्दी के इस नये युग की आधार शिला है। यदि आज के हिन्दी भाषा और साहित्य के उपवन में रंग-बिरंगे फूल खिले हैं तो वे प्रतिभाएं इन फूलों की खाद थीं; ऐसा मानने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व इस राज्य में अभी क्षेत्रीय भाषा का कोई आन्दोलन नहीं चला था इसीलिये उन दिनों डोगरी की कोई चर्चा नहीं थी। डोगरी साहित्य का भी माध्यम बन सकती है या बनेगी, यह विचार शायद ही किसी के मन में आता होगा। भाषा की बात केवल हिन्दी के साथ जुड़ी हुई थी, इसी कारण हिन्दी स्थानीय समाज पर छाई हुई थी। लोग हिन्दी पढ़ना-लिखना तथा जन-जन में इसका प्रचार करना अपना राष्ट्रीय कर्त्तव्य समझते थे। किन्तु अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने इस जन-भावना को सदा दबा रखा, जिसका उलटा प्रभाव पड़ा और जनता में राष्ट्र-प्रेम तथा भाषा-प्रेम और अधिक उमड़ चला।

जब हिन्दी क्षेत्र में भारतेन्दु युग चल रहा था उसी के समानान्तर जम्मू प्रदेश में ब्रज कविता का दौर इतना उत्तेजित हो उठा, जिसकी लहर काशी में भारतेन्दु की मण्डली तक पहुँची और भारतेन्दु को महाराज रणवीर सिंह के निमन्त्रण पर जम्मू आना पड़ा। हिन्दी के सम्बन्ध में इस राज्य और काशी दोनों का तालमेल उस समय अद्भुत घटना थी। छन्नू लाल, नील कण्ठ, मीहा सिंह, राजेन्द्र सिंह आदि उस युग के स्थानीय ब्रज कवि थे। इसी दौर के अनन्तर महावीर प्रसाद द्विवेदी के युग के समानान्तर इस राज्य में दुर्गा प्रसाद मिश्र तथा पं० गांगेय नरोत्तम शास्त्री न केवल जम्मू के अपितु अखिल भारतीय हिन्दी मंच पर जाज्वल्यमान व्यक्तित्व लेकर उभरे। दोनों का कार्यक्षेत्र कलकत्ता रहा। मिश्र जी ने जीवन में लगभग चार-पांच हिन्दी पत्रिकाओं का सम्पादन किया, जिनमें 'भारत मित्र' तथा 'उचित वक्ता' प्रसिद्ध हैं। लगभग २२ हिन्दी रचनाओं को जन्म दिया। पं० गांगेय शास्त्री जी द्विवेदी जी के घनिष्ठ मित्र

तथा २८ हिन्दी रचनाओं के जन्मदाता थे। सरस्वती में इनकी कविताएं छपती रही थीं। इन दोनों की इस रूप में साहित्य-साधना हिन्दी के प्रचार-प्रसार का साधन भी बनी।

इन दोनों हिन्दी महारथियों का युग द्विवेदी काल के कुछ पहले से प्रारम्भ होकर इस काल के अनन्तर तक भी चला किन्तु दुर्गा प्रसाद मिश्र श्री गांगेय नरोत्तम के बहुत पहले चल बसे थे।

द्विवेदी युग सन् १९०० से १९२० तक चला। इसके अनन्तर जम्मू प्रदेश में हिन्दी का एक नया दौर चला, जिसके अन्तर्गत साहित्य लेखन की अपेक्षा भाषा प्रचार कार्य अधिक तीव्रता पा गया। इस राज्य में यह भाषा सम्बन्धी आन्दोलन था, जिसके मूल में राष्ट्रभाषा के प्रति जन-जागृति मुख्य कारण थी। इसीलिये यहां हिन्दी का प्रचारात्मक आन्दोलन जोर पकड़ गया। इसकी एक लम्बी शृंखला स्वतन्त्रता प्राप्ति तक चली। शृंखला में प्रथम नाम पं० हर मुकुन्द शास्त्री का आता है जिन्होंने सरकारी नौकरी पर रहते हुए भी हिन्दी प्रचार-कार्य को अपने जीवन का अंग बना लिया। शास्त्री जी का जन्म सम्वत् १८५७ में हुआ था। सन् १८८२ में पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा पास करने के अनन्तर अंग्रेजी का अपेक्षित ज्ञान प्राप्त करके आप सर्वप्रथम जम्मू-कश्मीर राज्य के शिक्षा विभाग में नियुक्त हुए। क्रमशः अध्यापक, इन्स्पैक्टर के पदों पर रहकर इन्होने 'हिन्दी पाठ' पुस्तक तैयार की जिसे हिन्दी संस्थाओं में निःशुल्क बांटा जाने लगा। इन्होंने हिन्दी पाठशालाएं चलाईं तथा १२००० रुपयों की राशि एकत्रित करके एक हिन्दी ट्रस्ट भी खोला, जिसके माध्यम से यह प्रचार कार्य चालू किया गया। इसी बीच हिन्दी साहित्य-सम्मेलन इलाहाबाद की शाखा जम्मू में खुलवाई गई, जिसमें शास्त्री जी का मुख्य हाथ था। इनका देहान्त सन् १९३४ में हुआ। तब तक इन्होंने जम्मू में हिन्दी का सबल मंच तैयार कर दिया हुआ था। इनकी मृत्यु के अनन्तर भी यहां का हिन्दी-वातावरण प्रचारात्मक रूप में और आगे बढ़ता गया। इसका मुख्य कारण था सधे हुए हिन्दी भक्तों का इस क्षेत्र में सोत्साह उतरना। हिन्दी संस्थाएं स्थापित होना शुरू हो गई हुई थीं। इसी प्रकार की एक हिन्दी रात्रि पाठशाला पुराने डाकखाने के भवन में लगभग सन् १९४० में खुली थी, जिसमें तीन अध्यापक पढ़ाने के लिये नियुक्त किये गये—स्वर्गीय श्री बंसीलाल गुप्ता, पं० लेखराज शास्त्री तथा इन पंक्तियों का लेखक। यह रात्रि पाठशाला एक साल तक

सफलता-पूर्वक चलती रही। इससे शहर के सैकड़ों हिन्दी-छात्र लाभान्वित हुए। उन दिनों हिन्दी पढ़ाना राष्ट्र सेवा समझी जाती थी। इसी भावना के बल पर हम लोग साल भर मुफ्त शिक्षा देते रहे। इस पाठशाला में 'हिन्दी पाठ' पुस्तक पढ़ाई जाती थी तथा प्रतिदिन व्याकरण एवञ्च लेख की शिक्षा भी साथ-साथ दी जाती थी। इस संस्था के नियोजक पं० हरदत्त जी कभी-कभी आकर निरीक्षण भी कर जाते थे। शास्त्री हरमुकुन्द के योग्य पुत्र श्री लोकनाथ शर्मा एडवोकेट भी हिन्दी-प्रचार-प्रसार में अधिक ध्यान देने लगे। उनके द्वारा 'हिन्दी पाठ' की प्रतियां पाठशाला को निःशुल्क दी गईं, एवञ्च वे कभी-कभी हिन्दी विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता भी देते रहे। इन हिन्दी-पाठशालाओं का युग सन् १९३० से ही यहां चल पड़ा था किन्तु इसके साथ-साथ प्रचार संस्थाएं भी स्थापित होती गईं। इस श्रृंखला में सर्वप्रथम सन् १९३० में जम्मू में एक 'हिन्दी प्रचारिणी' नामक संस्था की स्थापना हुई। इसके संस्थापकों में मुख्य थे—पं० रमाकान्त शास्त्री, श्री बंसीलाल सूरी, पं० लब्धराम शास्त्री, पं० रघुनाथ शास्त्री, श्री मोहन लाल मोतियाल, पं० लोकनाथ शर्म्मा, लाला गुरांदित्ता तथा श्री दयाराम शास्त्री। सभा की गोष्ठियां आर्य समाज पुरानी मण्डी तथा हॉस्पिटल रोड समाज के भवनों में हुआ करती थीं। शहर के गण्यमान्य लोग इसके सदस्य थे। यह प्रचारात्मक सभा थी इसलिये इसकी गोष्ठियों में केवल इस सम्बन्ध की नीतियों तथा हिन्दी के हितों एवञ्च अधिकार रक्षा आदि पर ही विचार-विमर्श होते थे। इस सभा के कार्यक्षेत्र में एक और व्यक्तित्व का उभार हुआ, वह था कविराज विष्णु गुप्त के रूप में। कविराज जी वैसे तो जन-नेता के रूप में थे ही। तथापि उन्होंने इस नेतृत्व के साथ हिन्दी-हित का प्रश्न भी मुख्यरूप में जोड़ दिया। स्वास्थ्य बढ़िया, आवाज बुलन्द तथा व्यक्तित्व आकर्षक था। हजारों की संख्या वाले जन-अधिवेशनों में इनकी हिन्दी समर्थक वाणी सिंह-गर्जना का काम कर जाती थी। लोग प्रभावित भी होते थे।

जब कभी सरकार की ओर से हिन्दी पर अन्याय होता या विरुद्ध सरकुलर निकलता, उसी समय हिन्दी प्रचारिणी सभा मैदान में आ उतरती। प्रस्ताव पास होते, डेपूटेशन जाते तथा जन-आन्दोलन शुरू कर दिया जाता। मुझे याद है कि अपनी किशोरावस्था में मैंने भी इन नेताओं की सिंह-गर्जनाएं कई बार दीवानों के मन्दिर में होने वाले जन-अधिवेशनों में सुनीं। भीड़ इतनी होती थी कि बीच में रास्ता बनाकर कुछ कदम आगे जाकर बैठने में अत्यन्त

कठिनाई पैदा हो जाती। स्वतन्त्रता के अनन्तर मैंने जीवन में ऐसा समय कभी नहीं देखा, जब जम्मू नगरी में हिन्दी के प्रश्न पर इस प्रकार जनता की भीड़ एकत्रित होकर हिन्दी नेताओं का साथ दे। अद्‌भुत था वह युग भी। इन अधिवेशनों में १५ हजार से कम लोग नहीं होते थे। एक विशेष बात यह थी कि जम्मू की जनता का रुख इस हिन्दी आन्दोलन के साथ अधिक जुड़ गया था, हिन्दी नेताओं का व्यक्तित्व तथा त्याग-भावना और राष्ट्रीय जीवन ही इसमें कारण था, जिससे जन-मानस उनकी आवाज़ पर इतना आकृष्ट हुआ। नेताओं का वह दल एक-एक करके इस लम्बे समय के व्यवधान में अब समाप्त-प्राय है। अब उनमें से एक भी जीवित नहीं है। जीवित वे हैं जो उन दिनों किशोर थे किन्तु वे भी अब जीवन की संध्या तक पहुँचे हुए हैं।

सन् १९३२ में स्व० श्री बंसी लाल सूरी ने हिन्दी मासिक पत्रिका 'वसुधा' निकाली, जो पुराने हॉस्पिटल की बगल के एक मकान में स्थापित मंत्रालय से प्रकाशित होती थी। मंत्रालय शर्म्मा पुरातन प्रेस के नाम से चालू था। अब उसके स्थान पर क्रान्ति प्रेस स्थापित है। मुझे उस पत्रिका का परिचय आर्यसमाज के वाचनालय में मिला, जहां उसका एक अंक अन्य समाचार-पत्रों के साथ पठनार्थ टिका था। मैंने उसकी एक आध रचना पढ़ी मन आकृष्ट हुआ और पहुंचा प्रेस पर अंक लेने। किशोर की हिन्दी के प्रति लगन देखकर अधिकारियों ने मेरे से उस वसुधा अंक का मूल्य वसूल नहीं किया। मूल्य केवल छः आना था। उस अंक में मैंने सन्तराम 'विचित्र'[1], रघुनाथ शास्त्री तथा रमाकान्त शास्त्री के लेख पढ़े या ये लेख अगले अंक में पढ़े थे कुछ स्पष्ट याद नहीं आ रहा।

इसके सम्पादक श्री बंसीलाल सूरी अभी नए-नए बी० ए०, एल० एल० बी० करके वकालत में आए थे। उनके प्रबल हिन्दी प्रेम ने ही उन्हें निःस्वार्थ भाव से इस पत्रिका का अवैतनिक सम्पादक बनने के लिये प्रेरित किया और इसके चार अंक निकाल कर जब देखा कि आर्थिक कठिन परिस्थितियों के भंवर में पड़ कर पत्रिका आगे नहीं निकल पा रही है तो बाध्य होकर सूरी जी को इसे बन्द करना पड़ा। उस समय हिन्दी के लिये किसी सरकारी सहायता का छोटा-मोटा स्रोत भी नहीं था। उल्टे विरोध था। फिर भी सूरी जी हिन्दी का पक्ष

---

१. सन्तराम विचित्र ही वास्तव में 'वसुधा के मुख्य संचालक थे, बंसीलाल सूरी सम्पादक थे।

लेकर प्रत्येक आन्दोलन का स'थ देते रहे। इसी प्रकार की दूसरी विभूति थे श्री रमाकान्त शास्त्री। उनकी हिन्दी के प्रति तड़प अ· क थी। वे भी जीवन भर हिन्दी के पक्ष में कार्य करते रहे। जबकि इसमें कोई उन्नति, आर्थिक लाभ एवञ्च अन्य प्रकार की स्वार्थ-सिद्धि न होकर सरकार से विरोध का अभिशाप ही एकमात्र इनकी उपलब्धि थी। जब कभी सरकार हिन्दी के बारे में विरोधी कदम उठाती, ये नेता लोग मैदान में आकर उसका विरोध करते, अपनी आवाज़ जनता तक पहुँचाते और जनता आन्दोलन में कूद पड़ती। स कार को इन नेताओं को गिरफ्तार करने का साहस भी नहीं होता। अक्सर ऐसा करने पर मामला और उग्र हो सकता था। सरकार इसे भलीभांति जानती थी। श्री सैय्यदैन जम्मू कश्मीर शिक्षा विभाग के डायरेक्टर होकर आए। आते ही उन्होंने उर्दू की दिशा पर हिन्दी का बालोपदेश बनवा कर श्रेणियों में नियत किया। 'हिन्दी प्रचारिणी सभा' भाषा की इस विकृति को कैसे सहन कर सकती थी। परिणाम यह हुआ कि सैय्यदैन साहब के विरोध में जन-आन्दोलन खड़ा कर दिया गया। इसके नायक थे श्री विष्णु गुप्त कविराज, श्री रमाकान्त शास्त्री, श्री मोतियाल, सुश्री शान्ता भारती, श्री प्रशान्त, श्री भागमल इत्यादि। खूब जलसे-जलूस हुए। दीवानों के मन्दिर में १०-१५ हजार लोग जुटे और विष्णु गुप्त आदि नेताओं की सिंह-गर्जना होने लगी। भारती पत्रिका का एक विशेष अंक 'हिन्दी हत्या अंक' रूप से निकला, जिसमें सरकार की हिन्दी के प्रति उस नीति की कटु आलोचना-पूर्ण लेख भरे थे। तथा शिक्षा निर्देशक के हिन्दी के प्रति मनोभावना की धज्जियां उड़ाई गई थीं। यह आन्दोलन तब तक चलता रहा जब तक निदेशक महोदय अपना कार्यकाल पूरा करके चले नहीं गए। यह आंदोलन यहीं समाप्त नहीं हुआ—इसके साथ अन्य कार्यकर्ता भी आ जुड़े जैसे श्यामलाल शर्म्मा, अयोध्यानाथ वीर, दीनू भाई पंत[२]। इनके साथ पुराने धाकड़ नेता तो थे ही। कुछ विशेष कार्यकर्ताओं का एक प्रतिनिधि मण्डल लाहौर पहुंचा वहां बख्शी टेकचन्द, महाशय कृष्ण तथा अन्य नेताओं से मिलकर इन्होंने जम्मू-कश्मीर राज्य में हिन्दी की इस दशा पर प्रकाश डाला। तदनन्तर उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद तथा काशी में जाकर यह मण्डल महामना पं० मदनमोहन मालवीय, बाबू सम्पूर्णा-

---

२. सन् १९३० से जो हिन्दी प्रचारिणी सभा चली थी, वह छः-सात वर्षों बाद एक प्रकार से टूट गई थी। सन् १९३८ में उसका ही नया संगठन किया गया, जिसमें कथित नये कार्यकर्ता पुराने कार्यकर्ताओं को साथ लेकर चले।

नन्द तथा राधाकृष्णन् से मिला जिससे राज्य में हिन्दी पर होने वाले आघातों से उन्हें परिचित कराया गया। उन महापुरुषों की ओर से सरकार को जो विरोध-पत्र मिले, उन्हीं का परिणाम था कि सैय्यदैन साहब को आगे समय वृद्धि नहीं मिल पाई।

इधर हिन्दी के लिये आंदोलन जारी थे तो उधर हिन्दी को आम जनता तक पहुँचाने के लिये प्रकाशन द्वारा प्रयत्न हो रहे थे, इनकी प्रतीक थीं, उस समय यहां से निकलने वाली दो हिन्दी मासिक पत्रिकाएं—'भारती' तथा 'उषा'। भारती की सम्पादिका थीं सुश्री शान्ता कुमारी तथा उषा की सम्पादिका सुश्री शकुन्तला सेठ। किन्तु मैं इन दोनों पत्रिकाओं के सम्बन्ध में परिचय तथा गतिविधियां लिखने लगूं, इसके पूर्व का युग अभी पूरा नहीं हो पाया है अतः उसके सम्बन्ध में शेष विवरण देकर ही आगे इस विषय का स्पर्श करूंगा।

हिन्दी प्रचारिणी सभा के प्रधान कार्यकर्ता पं० रमाकांत शास्त्री के सतत प्रयत्नों द्वारा सन् १९३२ में जम्मू में पंजाब हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिकोत्सव मनाया गया। कन्या गुरुकुल जालन्धर के प्राचार्य श्री लाला देवराज सारे गुरुकुल परिवार के साथ जम्मू पहुँचे। उन्हें इस पूरे सम्मेलन का प्रधान मनोनीत किया गया। पहले दिन सारे शहर में इस परिवार की झांकी निकली। सैकड़ों छात्राएं तथा अध्यापक अतिथियों के रूप में आगे-आगे चल रहे थे, पीछे-पीछे नगर की जनता। झांकी दीवानों के मन्दिर में आकर पंडाल के आस-पास छा गई। मञ्च पर अतिथियों का अभिनन्दन किया गया और भाषण-माला शुरू हुई। दूसरे दिन प्रातः और मध्यान्ह में विशाल अधिवेशन और रात में विराट् हिन्दी कवि सम्मेलन हुआ जिसमें गुरुकुल की छात्राओं एवञ्च प्राध्यापकों के अतिरिक्त नगर के हिन्दी कवियों ने भी भाग लिया। वास्तव में उस युग में अभी हिन्दी के कवि यहां बहुत कम थे। केवल हरदत्त शास्त्री तथा श्री कान्ताचार्य इन दो स्थानीय कवियों ने ही इसमें भाग लिया। तीसरी कविता स्वयं श्री रमाकान्त शास्त्री जी ने पढ़ी—उसकी एक-आध पंक्ति मुझे अभी तक याद है—

भारत को नई जिन्दगी हिन्दी दिलायेगी
हिन्दी की चमक-दमक से होगा उजाला फिर

× × ×

आपस की फूट मेटकर सबको मिलायेगी
सच्चे मिलन का रंग यह हिन्दी चढ़ायेगी।

यद्यपि उस समय मैं आठ वर्ष का था फिर भी मैंने उस सम्मेलन के जो दृश्य देखे, उनकी स्मृति अभी तक बनी हुई है। मुझे याद है कि उसमें लाला देवराज तथा पं० श्रीचन्द्र तर्कतीर्थ के छपे हुए लम्बे हिन्दी भाषण भी इन्हीं के द्वारा पढ़े गये थे। उन भाषणों की कोई प्रति इस समय कहीं मिल जाये तो उस युग के हिन्दी इतिहास की एक अमूल्य स मग्री की प्राप्ति ही समझनी चाहिये। जब दूसरे दिन का उत्सव हो रहा था लगभग १५ हजार जनता बैठी होगी कि एक घटना घट गई। मुझे भली प्रकार स्मरण आ रहा है कि एक नंग-धड़ंग साधु आया और सीधा पंडाल पर चढ़ गया। उसने मन्त्री से दो शब्द बोलने के लिये समय मांगा। समय मिलने पर बाबा जी उलूल-जलूल बोलने लग पड़े। इससे जनता में गड़बड़ी शुरू होने लगी। मन्त्री ने उन्हें हट जाने को कहा भी फिर भी वे बोलते गये। जब बलात् पीछे हटाए गए तो क्रोध में आकर बाबा जी ने जलते गैस पर कुर्सी उठा कर दे मारी। इससे जनता में हलचल मच गई। बाबा जी की भी खूब पिटाई हुई। किन्तु अधिवेशन का कार्यक्रम आगे नहीं चल पाया।

अब मैं आता हूं हिन्दी की उन दो स्थानीय मासिक पत्रिकाओं, भारती तथा उषा की ओर, जिनका संकेत पहले दे दिया गया है। लगभग सन् १९३९ की बात है, जब इस हिन्दी प्रचार-प्रसार के आंदोलनों की आंधी के वातावरण में हिन्दी साहित्य तथा पत्रकारिता की सौम्य लहर भी दौड़ पड़ी। सर्वप्रथम सुश्री शान्ता भारती तथा पं० भागमल्ल जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप यहां से 'भारती' हिन्दी मासिक पत्रिका निकलने लगी, जिसकी सम्पादिका थीं कर्मठ एवञ्च हिन्दी की अनन्य प्रेमिका सुश्री शान्ता जी। 'भारती' का प्रकाशन करने से शान्ता भारती नाम से भारत में प्रसिद्ध हो चलीं। इस प्रकाशन के साथ 'भारती' परिवार हिन्दी आंदोलनों का भी पूरा साथ देता रहा। शान्ता जी पंजाब तथा उत्तर प्रदेश का दौरा करती हुईं हिन्दी का पक्ष जनता के समक्ष उपस्थित करती थीं। इनकी हिन्दी वाणी की वाहक स्वयं भारती पत्रिका तो थी ही। पीछे से चले आते हुए हिन्दी आन्दोलन को इस पत्रिका का पर्याप्त योगदान भी मिला[3]।

---

३. भारती का सबसे उग्र अंक सन् १९४५ का है जिसमें हिन्दी आंदोलन पर उग्र लेख लिखे गए हैं। कुछ लेखों के शीर्षक इस प्रकार हैं—

(क) यदि हिन्दी आन्दोलन भयानक रूप धारण कर गया तो—उसका उत्तरदायित्व अधिकारियों पर होगा।

—लेखक ला० दीनानाथ जी महाजन एडवोकेट ऐम० ऐल० ए०

हिन्दी पर होने वाले अन्यायों और पक्षपातों से सम्बन्धित लेखों के अतिरिक्त इसमें साहित्यिक सामग्री भी छपती थी। इसी प्रकार सन् १९४३ में 'उषा' नामक हिन्दी मासिक पत्रिका भी जम्मू से निकली। सुश्री शकुन्तला सेठ इसकी संचालिका और सम्पादिका थीं। इसकी पूरी रूपरेखा भारती जैसी ही थी। अन्तर केवल इतना था कि भारती का प्रचार-क्षेत्र सारा उत्तर भारत बन चुका था, स्वयं शान्ता जी सर्वत्र पहुँच कर भाषण तथा गोष्ठियों द्वारा इस राज्य की हिन्दी का संदेश सर्वत्र पहुँचातीं। मुझे याद है कि इसके एक अंक में महामना पं० मदनमोहन मालवीय, डॉ० मुंजे, बाबू सम्पूर्णानन्द तथा श्री पुरुषोत्तम दास टंडन के संदेश छपे थे। इसकी तुलना में सुश्री शकुन्तला सेठ केवल मौन साधिका थीं। इधर-उधर न जाकर उषा-सम्पादन द्वारा ही हिन्दी का परिपुष्ट वातावरण पैदा करना इनकी नीति थी। ये प्रचार क्षेत्र में नहीं पड़ीं। इसी कारण 'उषा' को 'भारती' जैसी व्यापकता और प्रसिद्धि नहीं मिल पाई तथापि उन दिनों जम्मू प्रदेश के हिन्दी क्षेत्र को इस का जो योग-दान मिला, वह प्रशंसनीय था। भारती में अधिकतर बाहर के लेखक छपते थे फिर भी जम्मू के श्री प्रशान्त, सुशीला तुली, पं० भाग मल्ल, सुश्री विद्यावती इन पंक्तियों का लेखक इत्यादि स्थानीय विद्वानों के लेख भी छपने लगे थे ?[४] किशोर साहू तथा पृथ्वी राज कपूर के लेख भी इसके किसी अंक में पढ़ने को मिले थे। उषा में अधिकतर स्थानीय लेखक ही छपते थे किन्तु कुछ लेख बाहर वालों के भी छप जाते थे।

—लेखक श्री नरेन्द्र नाथ 'कुमार'

(ख) वह देश

(ग) हिन्दी को मृत्यु शय्या पर सुला देने की चेष्टा ? शिक्षा विभाग को इसके लिये क्षमा नहीं किया जा सकता।

—लेखक श्री बंसीलाल जी सूरी, एडवोकेट जम्मू

(घ) रियासत कश्मीर का एक अनुभव (हिन्दी सम्बन्धित लेख)।

—लेखक श्री केशरी किशोर साहित्यरत्न, ग्वालियर

(ङ) कश्मीर के हिन्दू एवं उनकी शिक्षा।

—लेखक श्री कन्हैया लाल जोशी, देवास स्टेट

('भारती' के हिन्दी हत्या अंक के कुछ उपलब्ध पृष्ठों में से)

४) जून १९४७ में 'भारती' के अंक में निम्नलिखित लेखकों की रचनाएं छपी थीं—चन्द्रकाता सिंह सामन्त (कविता) अरुणेश (कविता) श्री शंकर सहाय (लेख) के० पाण्डेय (कविता) श्याम बहादुर,

उषा का प्रचार क्षेत्र पंजाब तथा उत्तर प्रदेश कम था और जम्मू अधिक; इसके विपरीत भारती का अधिकतर क्षेत्र पंजाब, उत्तर प्रदेश और बाद में जम्मू था। इस का कारण 'भारती' का विशाल-क्षेत्र के साथ तालमेल ही था। शान्ता जी को हिन्दी का पक्ष लेकर कभी कभी सरकार से भी टक्कर लेनी पड़ जाती थी। किन्तु सन् १९४७ के अन्तर परिस्थितयां बिलकुल नए रूप में उभरी थीं। हिन्दी प्रचार और प्रकाशन के पिछले मानदण्ड अब नहीं रहे थे । स्वतन्त्रता प्रभात की स्वर्णिम किरणें भारत के क्षितिज पर नाचने लगी थीं। और नई राष्ट्रीय सरकारें हिन्दी के लिये अपनी नई नीतियां लेकर आई।

हिन्दी साहित्य मण्डल

स्वतन्त्रतापूर्व के हिन्दी दौर का जो परिवरण ऊपर प्रस्तुत किया गया है वह हिन्दी प्रचार प्रसारात्मक तथा आन्दोलनात्मक था, जिस में नए नए

(कहानी) बद्री प्रसाद (लेख) महावीर 'वीर' (कविता) उर्मिला नायर बी० ए० (लेख) अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार (लेख) दिनेश द्विवेदी (कहानी) प्रो० राम चरण महेन्द्र एम. ए. (लेख) ब्रहम्दत्त विद्यालंकार (लेख) चन्द्र शेखर वाणु एम. ए. बी. टी. (कहानी) बृज लाल जी वियाणी का भाषण, एक पत्रकार (लेख) ला० ज्ञान चन्द (लेख) प्रो० सत्यपाल (लेख) अनुपमा (लेख) विद्यावती (लेख) 'कुंवर' (कविता), साहित्य परिचय ?

पंजाब हत्यांक १९४७ सितम्बर :—

मुख्य लेखक— श्री भृंग तुयकदी, (कविता) श्री प्रशान्त, (एकांकी) श्री गंगादत्त 'विनोद' (लेख)

मदन गोपाल खन्ना (लेख)

एस. ए. भसीन (लेख) विधावती, (लेख) राम कुमार, (कहानी) एक पत्रकार (लेख)

सत्यदेव (लेख) सत्यार्थी (लेख) उमा शंकर शुल्क (लेख) उर्मिला थापर (लेख)

जगदीश्वर नाथ विमल (कहानी) महेन्द्र रायजादा (लेख) महावीर प्रसाद वीर (कविता)

अचल (लेख) राम चरण महेन्द्र (कहानी)

नेतृत्व उभरे तथा जम्मू की जनता का आकर्षण हिन्दी के प्रति बढ़ा । इस आयोजन के साथ एक हिन्दी साहित्य संस्था भी फूट निकली । वास्तव में इस प्रचारात्मक परिवेश में हिन्दी साहित्य-लेखन का कार्य बड़ा शिथिल रहा किन्तु प्रचार द्वारा हिन्दी की उपादेयता स्थानीय जन मानस पर अवश्य बैठ गई । सन् १९४० के लगभग एक साहित्य संस्था ने भी जन्म पा लिया, जिस का नामकरण 'हिन्दी साहित्य-मण्डल' किया गया । इसकी स्थापना के मूल में जम्मू की उदीयमान युवा पीढ़ी थी, जो स्वांत: सुखाय अथवा हिन्दी सहित्य की अभिवृद्धि के लिये लिखने लगी । प्रारम्भ में जो चेहरे इस परिचय के साथ जुड़े उनमें से विशेष थे, सर्व श्री धर्मचन्द्र प्रशान्त, श्री श्याम लाल शर्मा, शंकर शर्मा पिपासु, नारायण मिश्र, राम नाथ शास्त्री, दीनू भाई पन्त, गंगादत्त विनोद, गोपीनाथ कौशिक, सुशीला तुली, राज तुली, पातञ्जल देव, लक्ष्मी कान्त जोशी, सुभाष भारद्वाज, वेद पाल दीप आदि आदि । मण्डल का उद्घाटन किस दिन और कहां हुआ यह तो याद नहीं रहा किन्तु इतना अवश्य स्मरण है कि इसकी साप्ताहिक साहित्यिक गोष्ठियां ब्रह्माण सभा, दीवानों के मन्दिर तथा जंज घर के सामने के चौबारे में क्रमपूर्वक होती थीं । श्री भगवत्प्रसाद साठे गोष्ठियों में हिन्दी कहानी पढ़ते थे । साठे जी ने हिन्दी कहानी से ही लिखना शुरू किया था । अभी डोगरी का आन्दोलन नहीं चला था, डोगरी भी साहित्य की भाषा हो सकती है, इस ओर भी किसी का ध्यान नहीं गया था । केवल हरदत्त जी डोगरी भजनों को गुनगुना रहे थे । कुछ समय बाद साठे जी भी डोगरी कहानी लिखने लगे परन्तु मण्डल के साथ इन का साहित्यिक सम्बन्ध पूर्ववत बना रहा । मण्डल के सदस्य-लेखक हिन्दी–आंदोलन में न जाकर लेखन-कार्य में ही पूर्ण रस लेते थे फिर भी इनकी रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में कम ही छपती थीं । इनका कोई संग्रह, पुस्तक अथवा रचना प्रकाश में नहीं आई । इन का लेखन केवल साहित्य गोष्ठियों तक ही सीमित था । फिर भी इनमें लेखन का उत्साह उछलता और उमड़ता हुआ चला जा रहा था । इन युवा लेखकों में एक व्यक्तित्व ही ऐसा था, जिसका कुछ साहित्य प्रकाश में आया वे थे श्री विजय सुमन । ये भी उपर्युक्त साहित्य गोष्ठियों में अधिक नहीं आते थे । पहले हिन्दी नहीं जानते थे । फिर हिन्दी सीख कर उर्दू से हिन्दी में चले आए । निरन्तर साधना से इन की कला हिन्दी कहानी में चमक उठी । 'उर्मियां' नामक इनका कहानी संग्रह तथा 'नयन खिलौने' नाम से कविता संग्रह छपा । इन की हिन्दी कविता मंझी

हुइ आर हृदय की वेदनाओं से मुखरित हो उठी थी। इन्होंने 'गुलाब' नामक एक साहित्यिक हिन्दी पत्र भी चलाया। जो सात आठ वर्षों तक चलता रहा। बड़ी बात यह कि लाहौर, दिल्ली, बम्बई इन तीन स्थानों से यह पत्र प्रकाशित होता रहा। छपता जम्मू में ही था। सुमन जी की कविता की एक झलक इस प्रकार है—

मैं अपने जीवन का प्रेमी,
मैं अपने यौवन का गायक,
अपनी मैं पहचान स्वयं हूँ,
अपना हूँ मैं ही उन्नायक।

सुमन जी के साहित्यिक-मित्र अधिकतर लाहौर तथा दिल्ली में थे। उन में भी मोती बी०ए०, श्री गुन्जन तथा नेपाली विशेष थे।

हिन्दी पुस्तकालय

हिन्दी साहित्य मण्डल के कर्मठ कार्यकर्ताओं ने, जहां मण्डल का उच्च स्तर कायम किया वहां उसी के अनुरूप एक हिन्दी पुस्तकालय की स्थापना की। इस के लिये धन इकट्ठा किया गया। पुस्तकें उगाही गईं तथा हिन्दी साहित्य का नया पुराना और नवीनतम साहित्य एकत्रित किया गया। इससे प्रस्तुत पुस्तकालय हिन्दी शोधार्थियों तथा पाठकों के लिये सर्वांग पूर्ण बन गया। ऐसा पुस्तकालय उन दिनों बड़ा दुर्लभ था। पुस्तकालयाध्यक्ष पहले राम कृष्ण शास्त्री रहे तदनन्तर याज्ञवल्क्य शास्त्री। साज सज्जा तथा व्यवस्था सुचारु थी। प्रत्येक पुस्तक की जिल्द के पृष्ठ भाग में एक छपी हुई स्लिप लगी रहती थी जिस के ऊपर मोटे अक्षरों में छपा था—हिन्दी साहित्य-मण्डल जम्मू द्वारा स्थापित, नीचे छपा था—"तुलसी जयन्ती वि० सं० २००० राष्ट्र भाषा पुस्तकालय" इस के नीचे तीन पंक्तियां इस प्रकार छापी गई थीं —

क्रम संख्या ....

श्रेणी संख्या ....

ग्रन्थ संख्या.........

नीचे एक नोट इस प्रकार दिया गया था—

नोट :—''किसी भी प्रकार पुस्तक को विकृत करने पर उसे बदलना पड़ेगा। पुस्तक १५वें दिन लौटानी होगी, अन्यथा १ पैसा प्रतिदिन प्रति पुस्तक हर्जाना पड़ेगा''।

पुस्तकालयाध्यक्ष

यह पुस्तकालय अपनी विषयगत विशेषता के कारण अपना उदाहरण आप था। बाद में मण्डल के अस्त होने पर यह पुस्तकालय भी कहां बिखर गया, इसका स्पष्टीकरण अब तक नहीं हो पाया। वास्तव में ऐसे हिन्दी के सर्वांगपूर्ण पुस्तकालय का जीवित रहना आवश्यक था। किन्तु मण्डल की समाप्ति पर हिन्दी का वह पिछला वातारण और क्षेत्र ही समाप्त हो गया। सारे व्यक्तित्व उठ कर डोगरी के नव निर्मित मन्च पर आ पहुँचे और हिन्दी का मन्च सूना पड़ गया। इस दल के पश्चात् कोई अन्य वैकल्पिक समूह नहीं था, जो इसे संभालता। यह भी एक विचित्र घटना हुई। पहले इतना उत्साह बाद में इतनी उदासीनता।

प्रस्तुत पुस्तकालय के अध्यक्ष को तीस रुपए मासिक दिया जाता था, जो उस सस्ती के युग में एक अच्छा भला वेतन था। पुस्तकालय फत्तू के चौगान में एक दूकान पर स्थापित था। दूकान का क्या किराया था, यह मालूम नहीं। वहां वाचनालय का प्रबन्ध भी किया गया था। सायंकाल नागरिक पुस्तकें तथा समाचार पत्र पढ़ने आते थे। इससे हिन्दी का एक परि-पुष्ट परिवेश जम्मू शहर में विद्यमान हो गया।

हिन्दी परीक्षाएं :—सन् १९३० से १९४७ तक जम्मू प्रान्त में हिन्दी परीक्षार्थियों की बाढ़ सी आ गई थी। रत्न, भूषण और प्रभाकर के परीक्षार्थी पंजाब विश्व विद्यालय के केन्द्र में प्रतिवर्ष सैंकड़ों की संख्या में जाते थे। जम्मू शहर में ही इन कक्षाओं की कई संस्थाएं ग्रुप पद्धति तथा रात्रि पाठशालाएं चलती थी। शास्त्री लोग इस पाठन-व्यवसाय में काफी द्रव्योपार्जन कर लेते थे। डोगरी की परीक्षाएं स्थापित न होने के कारण हिन्दी परीक्षाएं ही एक मात्र चल रही थीं! छात्र छात्राएं तथा अध्यापक धड़ाधड़ इन परीक्षाओं में पड़े हुए थे। एक ऐसी ही लहर चल पड़ी थी। एक-एक संस्था से बीस पच्चीस या चालीस प्रभाकर के छात्र परीक्षा में प्रतिवर्ष प्रविष्ट होते थे। इसी अनुपात से शेष दो परीक्षाओं में छात्रों की संख्या और अधिक रहती थी।

विद्यापीठ की स्थापना

हिन्दी क्षेत्र में कुछ और जाने पहचाने व्यक्तित्व उभरे हुए थे, जिन का अभिभावकत्व और प्रेरणा हर प्रकार के हिन्दी आयोजन को समय-समय पर मिलती रहती थी। ये थे सर्वश्री दया राम शास्त्री, मा० हरिश्चन्द्र विद्यार्थी, पं० लब्धराम शास्त्री, पं० रघुनाथ शास्त्री, पं० रमाकान्त शास्त्री, श्री मोहन लाल मोतियाल आदि आदि। ये महानुभाव सदा हिन्दी कार्य के लिये कटिबद्ध रहते थे। नागरिकों में इनका पर्याप्त प्रभाव और ख्याति थी। जिस किसी भी हिन्दी आयोजन में इन में से दो चार आ जाते तो आयोजन का प्रभाव बढ़ जाता था, श्री लब्ध राम शास्त्री शहर में अधिकतर हिन्दी छात्रों को पढ़ाने का कार्य करते थे। पं० लेखराज शास्त्री घर बैठे-बैठे दिन भर पचासों हिन्दी विद्यार्थियों को ग्रुप पद्धति द्वारा पढ़ाते थे। इसी संदर्भ में श्री दयाराम शास्त्री ने उन दिनों एक स्तुत्य प्रयास किया। पुराने डाक खाने के भवन में उन्होंने एक संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना की, जिस के स्वयं प्राचार्य बन कर सुन्दर व्यवस्था द्वारा इसे वर्षों तक चलाते रहे। इस में प्राज्ञ विशारद, शास्त्री तथा रत्न भूषण प्रभाकर कक्षाएं खोली गईं। यह कन्या विद्यापीठ था। प्रतिवर्ष कई छात्राएं संस्कृत तथा हिन्दी परीक्षाओं में बैठती थीं। इसी विद्यापीठ से कई छात्राएं शास्त्री पास करके निकलीं। विद्यापीठ की वर्तमान प्राचार्या सुश्री शकुन्तला सेठ उन दिनों इसी की छात्रा थीं जो शास्त्री तथा प्रभाकर पास करने के अनन्तर श्री दयाराम शास्त्री की विद्यापीठ संचालन में सहायिका बनीं, हिन्दी के इस दौर की समाप्ति पर प्रस्तुत संस्था भी हिन्दी संस्कृत का अपना बर्चस्व खो बैठी। अब तो मैट्रिक तक की कक्षाएं ही इसे चला रही हैं। फिर भी उस हिन्दी के स्वर्णिम काल की प्रसूति के रूप में यह संस्था आज भी श्री दयाराम शास्त्री जी की अमर कृति बन कर उस वातावरण का चित्र उपस्थित कर रही है। और आज की युवा पीढ़ी के लिये प्रेरणा का स्रोत भी बन रही है।

हिन्दी साहित्य मण्डल अपने युग में साहित्यिक गोष्ठियां निरन्तर करता रहा। यहां तक मुझे याद है इस ने कोई वृहद् जन-अधिवेशन नहीं किया। हां साहित्यिक सीमा के अन्दर रह कर छोटे मोटे उत्सव मनाए भी थे। कुछ जयन्तियां और कुछ साहित्यिक वृहद् गोष्ठियां या बाहर से आए उच्च-कोटि के हिन्दी लेखकों के स्वागत-अभिनन्दन आदि। एक बार श्री शान्ति

प्रिय द्विवेदी जम्मू आए थे, उन के निकास, भोज, भाषण आदि का सब उत्तर-दायित्व मण्डल ने लिया था। प्रिन्स आॅफ़ वेल्ज कालेज जम्मू तथा अन्य नगर-संस्थाओं में उन के निवास की व्यवस्था की गई, यह १६४१ की घटना है। एक बार इन के सन्मान में मण्डल के लेखक और कार्यकर्त्ताओं ने गर्मियों में नहर पर साहित्य गोष्ठि आयोजित की थी। मैं भी वहां था। उन दिनों जम्मू में चाय-पान का अधिक प्रचार न होने के कारण गोष्ठि की समाप्ति पर अतिथियों को ठण्डे आम तथा दूध की लस्सी दी गई थी।

मण्डल के साहित्यकारों का एक लम्बा दल था, जिन में श्री श्याम लाल शर्मा, राम नाथ शास्त्री, दीनू भाई पन्त, धर्मचन्द्र प्रशान्त. गोपीनाथ कौशिक, शंकर शर्मा पिपासु इन पंक्तियों का लेखक, जीवानन्द शास्त्री आदि मुख्य थे। या हरिश्चन्द्र विद्यार्थी, दयाराम शास्त्री, लब्धराम शास्त्री, रघुनाथ शास्त्री, रमाकान्त भारद्वाज, मोहन लाल मोतियाल, शान्ता भारती, शकुन्तला सेठ, सुशीला तुली, राज तुली आदि ऐसे व्यक्तित्व थे जिनका मण्डल पर वरद हाथ था और जो विशेष अधिवेशनों में आते थे।

ऊपर हिन्दी के उस युग की दो धाराएं दिखाई गई हैं। एक के द्वारा हिन्दी प्रचारिणी सभा के अन्तर्गत हिन्दी का पक्ष लेकर आम जनता में हिन्दी का प्रचार करना, हिन्दी पर अन्याय होने पर सरकार से टक्कर लेना तथा इस सम्बन्ध में लोक-मत पैदा करने के लिये जलसे-जलूस और सभाएं करना, ये कार्य होते थे। दूसरी ओर साहित्यिक गतिविधियां (मण्डल के माध्यम से) चलती थीं। पहली धारा के कार्यकर्ता जीवन भर हिन्दी के लिये समर्पित बने रहे किन्तु दूसरी धारा के लोग पहले हिन्दी के लिये समर्पित जीवन विताते रहे, बाद में डोगरी भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि के लिये समर्पित हो गए। इन में से केवल दो तीन ही ऐसे व्यक्तिव थे जो डोगरी की ओर न जाकर तब से अब तक निरन्तर हिन्दी के लिए ही समर्पित बने हुए हैं। वे महानुभाव हैं, श्री गोपीनाथ कौशिक, स्व० शंकर शर्मा पिपासु तथा इन पंक्तियों का लेखक।

सन् १९४७ से पूर्व तीन दशकों के भीतर जम्मू प्रदेश में हिन्दी भाषा और साहित्य की जो गतिविधियां इस लेख में दिखाई गई हैं, उन से सम्बन्धित हिन्दी युग की एक और विशेष बात देखी गई है—हिन्दी का इतना उत्तेजित आंदोलन २७ वर्षों तक इस राज्य में चलता रहा और एक सुनहरा इतिहास

भी पैदा कर गया किन्तु इस युग की साहित्य धारा जो साहित्य मण्डल के माध्यम से भी कुछ वर्ष चली, कोई भी लिखित साहित्य नहीं दे पाई। फुट-कल कविताएं कहानियां लेख आदि विभिन्न लेखकों द्वारा सैकड़ों की संख्या में मण्डल की गोष्ठियों में पढ़ी गई होंगी, वे न तो पत्र पत्रिकाओं में छपीं न संग्रहों में और न उन्हें सुरक्षित ही रखा गया। इतना ही हो जाता कि उन्हें फाईलों में बन्द करके कहीं सुरक्षित रख दिया जाता तो आज वह सामग्री हमारे अतीत हिन्दी युग द्वारा दी गई एक अमूल्य निधि होती। इस युग में जिन एक दो हिन्दी लेखकों ने अपनी रचनाएं प्रकाशित कीं वे मण्डल के स्थायी सदस्य अथवा कार्यकर्ता नहीं थे, पं० राजा राम शर्मा ने हिन्दी की दो पुस्तकें प्रकाशित की एक—''हमारी भूलें' दूसरी महाराज गुलाब सिंह। लेखक शिक्षा विभाग का अधिकारी था अतः किसी आयोजन से न जुड़ कर स्वतन्त्र लिखता रहा। श्री विजय सुमन ने दो रचनाएं प्रकाशित कीं एक कविता संग्रह और एक कहानी संग्रह किन्तु ये महानुभाव भी मण्डल से सम्बद्ध नहीं थे अगर थे भी तो कभी कभार मण्डल में आने वालों में से एक थे। इन की साधना स्वतन्त्र रूप में चलती थी, जैसा कि मैं जानता हूँ। फिर भी उन युग में हिन्दी जनों में कितनी भारी तड़प एवं त्याग-भावना थी, इस सम्बन्ध में विस्तार से ऊपर लिख दिया गया है। अब स्वतन्त्रता के युग में हिन्दी राष्ट्र भाषा बन चुकी है, इसकी अविवृद्धि के लिये जनता और सरकार दोनों की ओर से प्रयत्न हो रहे हैं पहले जैसी आर्थिक समस्या भी नहीं रही आज हिन्दी लेखकों के लिए आर्थिक प्रोत्साहनों के अनेक स्त्रोत भी खुल गए हैं। तथापि हिन्दी की अभ्यु-न्नति के लिए भावना, निष्ठा, त्याग और जनमत पैदा करने की आवश्यकता है। भारतीय जनता द्वारा अपने दैनिक जीवन में हिन्दी का प्रयोग तथा पाठ्य-क्रमों में अनिवार्यता। प्रशासन कार्यों में शत प्रतिशत हिन्दी का माध्यम तथा अंग्रेज़ी की स्थानापन्नता मुख्य रूप में हिन्दी की सर्वव्यापी उन्नति के ये ही कुछ सूत्र हैं।

———

जम्मू के हिन्दी कवियों पर फ्रॉयड का प्रभाव

—चंचल डोगरा

परंपरागत मान्यतानुसार कलाकार यश और धन का इच्छुक होता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार कलाकार यश, शक्ति और सम्मान का आकांक्षी होता है। वास्तविक जीवन में व्यक्ति को जिन साधनों और वस्तुओं का अभाव खटकता है वह उन समस्त वस्तुओं को काल्पनिक धरातल पर पाने का प्रयास करता है। कलाकार साधारण व्यक्ति से भिन्न होता है अतः उसकी कल्पना की उड़ान असीमित होती है। वह अपनी भावनाओं को कभी ब्रश द्वारा इन्द्रधनुषी बाना पहना देता है तो कभी निर्जीव कठोर पत्थर को भी आकर्षक भाव-भंगिमा प्रदान कर मुखर करता है। कभी उन्हें लेखनी द्वारा शब्दों में भी ढाल देता है । साहित्य-जगत को जितना प्रभावित मनोविश्लेषणवाद ने किया है इतना मनोविज्ञान की किसी अन्य शाखा ने नहीं । मनोविश्लेषण के जन्मदाता फ्रॉयड हैं। फ्रॉयड ने मन की विभिन्न दशाओं के गहन अध्ययन के पश्चात् मन को चेतन, अचेतन और अवचेतन तीन भागों में विभक्त किया है। इन तीनों में उसने अचेतन मन को प्रमुखता दी है। यह स्मृतियों का भंडार है। व्यक्ति के आचार-विचार, व्यवहार तथा रहन-सहन इससे ही प्रभावित होते हैं तथापि उसे इसका ज्ञान नहीं होता । साथ ही सम्पूर्ण व्यक्तित्व को परिचालित करने वाली शक्ति 'लिबिडो' है जो काममूलक है और व्यक्ति के समस्त कार्य-कलापों का निर्देशन 'काम' द्वारा ही होता है। आइए जरा देखें कि जम्मू-कश्मीर का काव्य-जगत् फ्रॉयड के सिद्धांतों से कहां तक प्रभावित हुआ है।

दमन

दमन एक प्रकार की अचेतन क्रिया है। भय आर काम संबन्धी भावनाएं प्रत्येक व्यक्ति में जन्मजात होती हैं। भय की मात्रा समय के साथ घट जाती है जबकि कामेच्छा प्रबल होती जाती है। यौन भावनाओं का व्यक्ति सामाजिक, धार्मिक, और नैतिक मान्यताओं के कारण दमन कर लेता है। व्यक्ति समाज में स्नेह तथा आदर का स्थान पाना चाहता है इसलिए इन दमित काम-भावनाओं का अचेतन मन द्वारा परिष्कार करके उन्हें समाज द्वारा स्वीकृत रूप प्रदान करता है।

कवि के अस्तित्व को समाज ने बुरी तरह झिझोड़ दिया है इसीलिए जहां वह यह स्वीकार करता है कि उसका दर्द ही उसके गीतों में विद्यमान है, जिसे देख कर वह अतीत में खो जाता है, वहीं वह प्रेयसी का नाम रचनाओं में लेते हुए भी भयभीत हो उठता है और उसे कल्पना के सप्तरंगी आवरण में ढंक देता है। इतने से ही उसका भय समाप्त नहीं होता। भय की अधिकता का अनुमान तो तब करते हैं जब वह प्रेयसी के अस्तित्व को भी नकार देता है—

तुम्हारे विषय में
यदि कोई पूछे
तो क्या बताऊं
कुछ भी तो नहीं है बताने को
पर
ये लोग
विश्वास नहीं करते
कि तुम्हारा
कभी अस्तित्व ही न था।[1]

जिन कामनाओं की पूर्ति सांसारिक भय से नहीं हो पाई, वही इच्छाएं कवि के दर्द में एकत्र होती चली गईं। कवि अपनी कामुक भावनाओं को अभिव्यक्ति देने में लज्जा अनुभव करता है—

इस कच्ची उम्र में, मैंने—
कुछ ऐसे काम किए हैं

---

१. 'प्रश्न तुमसे'; आदर्श पीयूष; पृष्ठ १४

जिन्हें शब्द देते,
लजा जाता हूं।[२]

असफल प्रणय के कारण कवि के चारों ओर छाया हुआ निराशा का अंधकार दमन के कारण ही है। कवि के लिए यह अंधकार चिर, सत्य, शाश्वत और सनातन है क्योंकि दिन की रोशनी में उसके मन की परतें खुल नहीं पातीं पर अंधकार में अपनापन झलकता है। अचेतन में बसी अतृप्त इच्छाएं उभर-उभर कर सामने आती हैं—

और सच्चा है
साँझ का यह सूरज
क्योंकि यह
सदा मुझे
अंधेरा देता है;
अंधेरा
जो मेरे लिए
चिर सत्य है
शाश्वत है।
सनातन है।[3] (सुभाष भारद्वाज)

'प्रश्न तुमसे' में आदर्श पीयूष की अधिकांश रचनाओं—निर्दोष तुम, अनाथ स्मृति, निखार, मौन प्रतिबंध, संबोधन तुमको, अधूरा मैं, चिर पिपासा, अगीत आदि में दमन की क्रिया ही प्रबल है। वस्तुतः शीर्षक स्वयं इस तथ्य का प्रमाण है।

लिबिडो

इसे मूल शक्ति माना गया है। व्यक्ति के जन्म से मृत्यु-पर्यन्त समस्त कार्य-व्यापार काम से ही सम्बन्धित होते हैं ऐसी फ्रायड की धारणा है। फ्रायड ने उन सभी कार्यों को 'काम' के अंतर्गत माना है जो सुख के द्योतक हैं। इसके अंतर्गत आनंद, उत्साहपूर्ण कार्य-कलाप, मिथुन-व्यापार, प्रेम-घृणा जैसी मानसिक पक्ष की समस्त बातें आ जाती हैं।

---

२. बयार के पंखों में; निर्मल विनोद पृष्ठ १६
३. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे; पृष्ठ १—२

ज़िन्दगी में निहित सत्य की एकरसता से ऊबने से पहले उपभोग के क्षणों तक पहुँचने की स्थिति कवि की काम-वृत्ति की परिचायक है जहां समस्त दूरियां सिमट कर सिकुड़ जाती हैं, सभी संदेहों का अस्तित्व विश्वास तले दब कर चूर-चूर हो जाता है--

आंखों से आंखें मिलीं
मन से मन छू गया
धड़कनों की बातें
धड़कनों ने सुनीं
तो दूरियां सारी
सिमट गयीं
सिकुड़ गयीं
सन्देह पर विश्वास की परतों का
इस्पात जम गया।[४]

(सुतीक्ष्ण कुमार शर्मा आनन्दम)

जहां एक ओर कवि का यह कथन कि 'उनके संबन्धों का आधार मात्र देह नहीं मन है,' वहीं दूसरी ओर उसे केवल मन के रिश्ते ही स्वीकार्य नहीं हैं बल्कि वह प्रणय की प्रामाणिकता के लिए तन की भूख भी शांत करना चाहता है—

है तो फूलों में भी गंध
और तेरी नदी में भी
शीतल, मधुर, जलधार है
तब मैं जानूंगा
मैं तो तब मानूंगा
तुझे मुझ से प्यार है।[५]

(सुभाष भारद्वाज)

दमित काम के द्वारा कवि के मन में एक तड़प जन्मी है कि कोई उसे अपना कहे। इस 'अपना' कहलवाने में दैहिक स्तर पर चाहे कोई उपलब्धि हो न हो पर मानसिक संतोष अवश्य होगा और यह मानसिक संतुष्टि द्योतक है फ्रायड की 'काम' संबन्धी धारणा की !

---

४. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे; पृष्ठ २३
५. वही— पृष्ठ ५

भेद यह—
कि अन्य लालसाओं के साथ
इसे भी पाले हूं—
कि कम से कम एक बार
कह दे कोई—
'तुम मेरे हो'
या
'मैं तेरा हूँ'।[6] (श्याम नारायण राय)

प्रणय में असफल होने के पश्चात् भी कवि प्रेयसी से मानसिक स्तर पर बंधा है जो यह सिद्ध करता है कि उसके मन में प्रणय के अवशेष हैं। इसी लिए उसका आग्रह है कि—

किन्तु—
मत भूलना
यह कहना तुम किसी को
कि इस द्वार की
निमोली तुम स्वयं रही हो।[7]

यांत्रिकता के वातावरण में जब चारों ओर मशीनों की गड़गड़ाहट सुनाई देती है ऐसे व्यस्त समय में भी कवि को वह आंख दृष्टिगोचर हो जाती है जिसके सहारे उबाने वाली घड़ियां सरस होकर बीत जाती हैं तथा उसके अचेतन में कुलबुलाती अभुक्त कामनाएं संतुष्ट होने लगती हैं—

पसीने में पिघलती ज़िन्दगी
अचानक फूल की पाँखुरी बन जाती
गर्म सांसों में गर्म सांसें मिलकर
अजीब ठंडक बरसा देती हैं।[8]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की अभुक्त यौनेषणाएं लिबिडो के अंतर्गत झलकती हैं।

---

६. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे; पृष्ठ ५६
७. 'प्रश्न तुमसे'; आदर्श पीयूष पृष्ठ २४
८. सेतुओं की खोज, डॉ० ओमप्रकाश गुप्त पृष्ठ १६

आरोपण

आरोपण मन की वह अवांछनीय क्रिया है जो दमन के कारण उत्पन्न होती है। इसके द्वारा व्यक्ति अपनी दोषपूर्ण एवं हीन भावनाओं का आरोपण किसी अन्य व्यक्ति पर कर स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करता है और दुःखद स्मृति से स्वयं को मुक्त कर संतुष्ट होता है। कवि ने इस प्रक्रिया के द्वारा कहीं समाज पर व्यंग्य करते हुए आक्रोश का रुख अपनाया है तो कहीं विरह के क्षणों में प्रकृति कुमारी के आंचल में प्रिय की स्मृति में खोने का प्रयत्न किया है।

विशालकाय समाज के सम्मुख व्यक्ति नगण्य है और यह समाज तो उसे पनपने ही नहीं देता। जहां समाज को जागृति की किरण फूटती दिखाई दी नहीं कि उसे नष्ट करने पर तुल जाता है। उसे भय है कि यह आग उसे जला न दे। समाज के इस व्यवहार के कारण कवि में विद्रोह की भावना जन्म लेती है पर साथ ही इसमें लघुता-बोध भी जन्म ले लेता है। अपनी भावनाओं का आरोपण कवि ने सिगरेट पर करके अपने आक्रोश को व्यक्त किया है—

हम सिगरेट हैं
लाल - नीली - पीली
डिब्बियों में लिपटे
हम सिगरेट हैं।[९]

उसने अपने आक्रोश का आरोपण-लक्ष्य केवल समाज पर ही नहीं बल्कि भगवान पर भी किया है क्योंकि कवि का उस पर से विश्वास हट चुका है—

मंदिर में
जाना छोड़ा
भगवान कागज़ी हैं।[१०]

ज्योतीश्वर पथिक को जब प्रेयसी से दूर 'हाऊस बोट' में रात बितानी पड़ी तो उन्हें 'सिगरेट के छल्ले की' ताल पर स्मृति मदहोश करने लगी। कभी प्रेयसी उस स्वप्न की भांति लगने लगी जो प्रातःकाल के साथ ही छिप जाए। कभी ऐसा आभास हुआ कि चांद की तरह गोल चेहरे वाली

---

९. खुले कमरे वंद द्वार रमेश मेहता पृष्ठ १३
१०. वही पृष्ठ २७

प्रेयसी उसके पास ही बैठी है—इस प्रकार स्मृति में समाई प्रेयसी उनके अवचेतन से निकल कर विभिन्न रूप धारण करती उनके सम्मुख उपस्थित होती है—

पानी में तैरती है नाव
और
इसकी छत पर बैठा हुआ मैं
सोच रहा हूँ
(सिगरेट के छल्लों के ताल पर)
कि तुम
एक स्वप्न तो नहीं
जिसकी टिमटिमाती छवि
सुबह के जन्म पर.
दम तोड़ देती है।[११]

बादलों से उलझते चांद को देखकर तथा अनन्त सागर में थपेड़े खाती नाव को देखकर कवि को लगता है कि उसकी प्रेयसी उस तक पहुँचने का प्रयत्न कर रही है। यहां प्रेयसी से मिलनाकांक्षा को नाव पर आरोपित किया गया है—

एक नाव
जो चाहती है
मुझ तक पहुंचना
क्योंकि मैं
किनारा हूं।[१२]

कवि की निराशा इस कदर बढ़ गई है कि उसे अपना जीवन वीरान लगने लगा है तथा उसका आरोपण एक खण्डहर पर करके उसने अपनी भावनाओं को इस प्रकार व्यक्त किया है—

मेरा जीवन
इक वीरान खण्डहर
की भांति है।

---

११. चौराहे पर खड़े बारह चेहरे; सं. जवाहर रेणा पृष्ठ २२

१२. प्रश्न तुमसे; आदर्श पीयूष, पृष्ठ ५२

यह खण्डहर
जो कभी
जीवन की हलचल
अनुभव करता था
जो कभी मुक्त हास से
गूंजा करता था ।[13]

जीवन में समाई विषमताओं को देखकर कवि क्रोधित हो उठता है तथा उसका आक्रोश आरोपण की वृत्ति द्वारा व्यक्त होता है। रमेश का यही आक्रोश लैंप-पोस्ट, कागज़ी, परिचय—(व्यस्तता), श्रेय के अधिकारी, हम गंदे हैं द्वारा व्यक्त होता है।

तादात्म्यीकरण

तादात्म्यीकरण के द्वारा व्यक्ति अपने प्रिय व्यक्ति के आचारों, विचारों, कार्यों, आदर्शों, आदि को आत्मसात करता है और स्वयं को अपने श्रद्धेय की भांति बनाता है उसे वह अपना आदर्श समझ लेता है। कवि अपने दायित्व के प्रति जागरूक है अत. प्रिय संकीर्णता की परिधि से निकल कर व्यापक अर्थ धारण कर चुका है। देश में फैली अव्यवस्था को देख कर उसके मन में आक्रोश जन्मा है। डिग्रियां ले लेने के बाद भी व्यक्ति रोजी की तलाश में भटक रहा है। कवि ने देश के कर्णधारों पर तीखा व्यंग्य किया है क्योंकि उस की आंखों में उबलता कोलतार है—(सुदृढ़ विद्रोह है) वह अपने बेजान कंधों पर' कर्णधारों की कमज़ोरियां लादने के लिए अभिशप्त है—

और हां
मैं भी हूँ कैसा अंधा !
कि नहीं देखता
तुम्हारी पालकी उठाने के लिए ही
बना है—
यह वेजान कंधा ।[14] (डॉ० ओम प्रकाश गुप्त)

इस प्रकार कवि ने देश में फैली अव्यवस्था के शिकार व्यक्ति का प्रतिनिधित्व किया है।

---

१३. खुले कमरे बंद द्वार, रमेश मेहता पृष्ठ २४
१४. चौराहे पर खड़े बरहा चेहरे; पृष्ठ १५-१६

स्थानान्तरण

यह मानसिक व्यापार साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति द्वारा सम्पन्न होता है। इसके द्वारा व्यक्ति अपने प्रेम, घृणा, ईर्ष्या तथा द्वेष को एक व्यक्ति से हटाकर दूसरे पर केन्द्रित कर देता है। व्यक्ति को स्वयं इसका बोध नहीं होता क्योंकि यह व्यापार अचेतन मन द्वारा सम्पन्न होता है।

प्रेयसी का पुलक स्पर्श कवि को झरने के कल-कल करते पानी द्वारा भी होता है। आकाश में उड़ते श्यामल मेघों में अलकों की सुगंध, गगनचुम्बी बर्फीली चोटियों में श्वेत उरोजों की चमक, नदी की धार में समाई प्रेयसी की बाहें तो देवदार और चीड़ों में उसे मांसल जंघाएं, पक्षियों के कलरव में उसकी मधुर वाणी तथा चांद को देखकर उसकी मधुर मुस्कान याद आती है। इस प्रकार प्रकृति के विशाल प्रांगण में हर क्षण, प्रत्येक स्थान पर प्रेयसी के अंग-प्रत्यंग दृष्टिगोचर होते हैं। प्रकृति ही प्रेयसीमय हो गई है।

कल-कल करते
झरने की धार के नीचे
मैं
जब भी कभी नहाता हूँ
तो अपने ऊपर पड़ती जल धार से
तुम्हारे पुलक स्पर्श का
आनन्द पाता हूँ।[१५]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जम्मू के कवियों में दमन, लिबिडो और आरोपण वृत्ति का प्राचुर्य है तथा तादात्म्यीकरण और स्थानान्तरण प्रक्रिया भी छिटपुट रूप में दृष्टिगोचर होती है किन्तु उदात्तीकरण का सर्वथा अभाव दिखाई देता है।

---

१५. खुले कमरे बंद द्वार—रमेश मेहता पृष्ठ ३५

'जम्मू की हिन्दी कहानी में अस्तित्ववाद'

—डॉ० अनिल गोयल

"अस्तित्ववाद पाश्चात्य एग्ज़िस्टेंशियलिज़म का पर्यायवाची है। यह वाद वहां के उस विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, जो मनुष्य को आकस्मिक उपज मान कर संत्रास, कुंठा, मृत्यु आदि के भीतर उसके सही अर्थ की खोज करता है।[1] अस्तित्ववाद आधुनिक युग का बहुचर्चित और सर्वाधिक प्रतिष्ठित दार्शनिक वाद है जो अंग्रेज़ी के 'एग्ज़िस्टेंस' का समानार्थक है। सारेन, कीर्केगार्द, फ्रेडरिक नीत्शे, कार्ल यास्पर्स, ग्रैब्रियल मार्शल, मार्टिन हैजगर, ज्यां पाल सार्त्र, फ्लाब्रेयर तथा कामू जैसे योरोपीय एवं अरविन्द जैसे भारतीय चिन्तकों ने अपने-अपने मतानुसार इसे परिभाषित करते हुए इसे दार्शनिक और धर्मनिरपेक्ष अर्थ प्रदान किया है।

अस्तित्ववादी दर्शन के अनुसार अस्तित्व 'सार का पूर्ववर्ती है'। 'सार' प्रकृति का निश्चित आकारयुक्त, प्रयोजनशील निष्क्रिय तत्त्व है और 'अस्तित्व' वह चेतना सम्पन्न क्रियाशील, अनिश्चित अंश है जिसका प्रकटीकरण मानव मात्र में ही होता है। अस्तित्ववाद के समर्थक ज्यां पाल सार्त्र के शब्दों में "सर्वप्रथम मनुष्य का अस्तित्व होता है, उस अस्तित्व को उभारने के लिए वह स्वयं से संघर्ष करता है[2]।" साधारण शब्दों में अस्तित्ववाद मानव को पुनः उसके प्राकृतिक आन्तरिक स्वरूप में ऊर्ध्वमुखी चेतना प्रदान करने वाला सिद्धान्त है जो उसके अस्तित्व को आन्तरिक गरिमा का सबल और बौद्धिक सम्बल प्रदान कर उसे सम्पूर्ण मानव बनाने में सहायक होता है।

---

१. बृहत् हिन्दी कोष— पृ० ११०
2. Jean-Paul Sartre—Existentialism & Humanism Page 28

आधुनिक हिन्दी कविता, उपन्यास तथा नाटक की भांति हिन्दी कहानी भी पुरा-मूल्यों को नकारती हुई रचनाशीलता के स्तर पर यथार्थ से जुड़कर अस्तित्वबोध से सम्बद्ध बुनियादी प्रश्नों को गहराती है। जम्मू-कश्मीर के कहानीकारों ने युगीन संकट की त्रासदी को झेलते हुए अपनी कहानियों में अस्तित्ववाद-संबंधी मानकों का चित्रण सूक्ष्म एवं कलात्मक ढंग से किया है।

इस प्रदेश के कहानीकारों ने अस्तित्ववादी धारणा के अनुरूप ईश्वर, धर्म तथा देवस्थानों के प्रति आस्थावादी एवं अनास्थावादी मत प्रकट किए हैं। आस्थावादी अस्तित्ववाद के अन्तर्गत मनुष्य अपने भाग्य पर विश्वास नहीं करता बल्कि कर्म पर आस्था रखता है तथा उसके लिए स्वयं को ही उत्तर-दायी ठहराता है। दीदार सिंह की कहानी 'पराजय' की प्रभा अपने अस्तित्व को कला के माध्यम से निखारना चाहती है अतः कर्म को महत्व देते हुये संघर्षरत रहना चाहती है—"कभी-कभी कठोरता को भी साधना समझना पड़ता है और कलाकार समय आने पर उसे भी अपना लेता है। जब किसी मंजिल पर पहुँचने का निश्चय कर लिया जाता है तो रास्ते की सभी बाधाओं को और मायाजाल को पराजित करना पड़ता है[3]।" इन अस्तित्ववादियों के एक वर्ग का तर्क यह भी है कि यदि मनुष्य ईश्वर पर भरोसा रख कर निर्णय ले तो वह मंगलमय होता है। इस संदर्भ में अंकित है डा० ओम् प्रकाश गुप्त की कहानी 'पेंडुलम' से एक उदाहरण जहां रोगी के उपचार में संलग्न डाक्टर रोगी के संबंधी को आश्वासन देता हुआ कहता है—"जो ईश्वर-इच्छा होगी, वही होगा। चिन्ता न कीजिए[४]।" इसी प्रकार के ईश्वरीय बोध की अभिव्यक्ति डॉ० गुप्त की कहानी **रात सितारों वाली** में भी मिलती है। जहां अतीत के झरोखों में झांकता हुआ पिता विधवा शोभा की यातना सह नहीं पाता और समस्त विरोधों को भूल कर शोभा तथा राज के पुनर्विवाह के अवसर पर ईश्वर से प्रार्थना करता है—"और आज अनेक विरोधों के पश्चात् इस मकान की दीवारों पर दीपमाला हो रही है; राजू ने, वर्षों के बाद फिर से लाल कोट पहना है; मेरी आंखों में आंसू हैं; दोनों हाथ जोड़े ईश्वर से प्रार्थना कर रहा हूँ—ये आंसू शोभा की साड़ी के सितारे और राजू के कोट के फूल बन जायें[५]।"

---

३. दीदार सिंह—धुंधलके— पृ० १५३
४. ओम् प्रकाश गुप्त—लहर-लहर हर नैया नाचे पृ० ६४
५. वही पृ० ९

अनास्थावादी चिंतकों का प्रभाव आज की कहानी पर अपेक्षाकृत अधिक पड़ा है। इनका तर्क है कि ईश्वररूपी सत्ता की परिकल्पना मात्र भ्रम है, धार्मिक तथा साम्प्रदायिक मान्यताओं ने मनुष्य को भटकाया ही है... किसी गंतव्य तक नहीं पहुँचाया। पं० दुर्गादत्त शास्त्री विरचित कहानी **'बहन की असीस'** के सभी पात्र सात दिन से बेहोश प्रमोद के बचाव हेतु देवी देवताओं की मनौतियां मानते हैं परन्तु यह मनौतियां उनके कष्टों का निवारण करने का साधन नहीं बनती हैं—"सुजान सिंह और उसकी बीवी तेज कौर दिन-रात उसकी सार-सम्भाल कर रहे थे। वे अच्छे हो जायें, तेज कौर ने अखण्ड पाठ की मनौती मानी और सुजान सिंह ने दरबार साहब के हजूर में कढ़ा-प्रसाद की सुक्खन की, पर सब व्यर्थ[६]।" इसी प्रकार डॉ० ओम् प्रकाश गुप्त की 'माथे की रेखाएं' कहानी में भाग्यवाद का विरोध बड़े निर्मम ढंग से हुआ है और व्रत आदि के प्रति अनास्था व्यक्त की है—"एक बार उसने अनु से कहा—तुम्हारी मम्मी भी तो एकादशी का व्रत रखती है। 'मम्मी भी बुद्धू है और अंकल भी[७]।"

मूल्य बोध अस्तित्ववादी चिन्तन प्रणाली का अभिन्न अंग है। नीशे तथा सार्त्र जैसे दार्शनिकों के विचार में जीवन मूल्यों की सत्ता मानवीय चयन भावना की सापेक्षता में है अतः मनुष्य अपनी स्वातन्त्र्य-भावना के बल पर उन सभी मूल्यों को ठुकरा सकता है जो उसके अस्तित्व के निर्माण में बाधक सिद्ध होते हैं। कथाकारों का मत है कि—"आदमी के व्यक्तित्व को, उसकी भावनाओं को, उसकी महत्त्वाकांक्षाओं को दबा कर रखने की, उस पर दूसरे के व्यक्तित्व को ठोंसते चले जाने की भी एक सीमा होती है और सीमाओं का अतिक्रमण हमेशा भयावह स्थितियों की विस्फोटक सामग्री लेकर सामने आता है[८]।" यही कारण है कि तरसेम "कभी-कभी अपने में ही चौंक उठता। क्या यही उसकी जिंदगी है... ? यही उसकी नियति है......? क्या उसको जिंदगी भर यूं ही सहकते, सहमते, दहकते रहना पड़ेगा ......? कुंठाओं से जकड़ी उसकी मानसिकता पग-पग पर विखंडित होती रहेगी......? क्या मतलब उसके जिए चले जाने का..... ...[९]?" पुरा-मूल्यों को ध्वस्त करने के

---

६. पं० दुर्गा दत्त शास्त्री—प्रिज्यों में बटी किरणें पृष्ठ १६
७. डॉ० ओम् प्रकाश गुप्त—प्रिज्यों में बटी किरणें पृ० २६
८. बलनील देवम्—उल्कापात— पृ० १०३
९. वही पृ० १०४

लिए तथा व्यक्तित्व के आधार पर अस्तित्व की पराकाष्ठा रेखांकित करने हेतु तरसेम के मन में पलता हुआ खामोश ज्वालामुखी विस्फोट कर उठा और विरोध भरे स्वर में तरसेम चाचा से कहने लगा—"मेरे बापू के भाई...... —मेरे क्या हो ? मैं तुम्हें कुछ भी नहीं समझता........। और यह लव लैटर है। मेरी लवर ने लिखा है। मैं भी उसे लिखता हूँ और लिखूंगा। वह भी मुझे लिखेगी। हम खुले-आम घूमेंगे और उसको इस घर में भी लाऊंगा। तुमने जो करना है कर लो .....[१०]।" 'सपना' कहानी का हरीन्द्र स्वतन्त्र जीवन का पक्षपाती है तभी तो सामाजिक मूल्यों का विरोध करके स्वतन्त्र जीवन जीने की लालसा प्रकट करता है—"यदि आप रस्मी शादी की बात करते हैं तो मैं उसे नहीं मानता और न ही मेरी ऐसी शादी हुई है। इस शादी में दो शरीरों को जकड़ दिया जाता है लेकिन मन अपनी जगह स्वतन्त्र रहते हैं। शादी तो वह है जहां मन बंध जाए[११]।"

मूल्यों के बदलाव ने नारी जीवन में पर्याप्त चेतना लायी है। आज उसके अन्तर्मन में प्रश्न उभरता है कि "पुरुष स्त्री को मनचाहा डेकोरेशन पीस बनाने में ही क्यों अपनी इज्जत समझता है[१२]?" उत्तर में वह यही हल निकाल पायी है कि "अपने अहं की तृप्ति के लिए वह चाहता है कि जिस स्त्री से उसका संबंध हो, वह पूर्णतया उसी की होकर रहे, उसका कुछ भी स्वतन्त्र रूप से अपना कहने को न रहे .. ...[१३]।"

नारी के अस्तित्व-बोध की स्थिति ने पारिवारिक संबंधों के ढांचे को भी झकझोर कर रख दिया है। अब पति-पत्नी में तीसरा आदमी प्रमुख हो जाता है जिसके कारण उनके संबंध टूटने लगते हैं। कई बार 'एडवांसमेंट' के नाम पर वे दोनों समझौता करने को उद्यत हो जाते हैं परन्तु अहं एवं अस्तित्व के तकाजे अवरोध उपस्थित कर देते हैं। इस संदर्भ में रमेश मेहता की कहानी 'एक मादा प्रतिशोध[१४]' अवलोकनीय है।

---

१०. बलनील देवम्—उल्कापात— पृ० १०७

११. दीदार सिंह—धुंधलके— पृ० ९१

१२. राज भल्ला—प्रिज्यों में बटी किरणें पृ० ७५

१३. संतोष कौल लक्ष्यहीन पृ० ३१

१४. रमेश मेहता—अधूरी कहानी का हीरो पृ० ११

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी अस्तित्ववाद में विशेष महत्त्व रखती है। नि:सन्देह व्यक्तिवाद व्यक्ति विशेष का प्रतिनिधित्व करता है जबकि अस्तित्ववाद समाज विशेष का परन्तु व्यक्ति समाज की प्रथम इकाई है अत: इसका अध्ययन यहां सापेक्ष है। हिन्दी कहानीकारों ने इसे अलग-अलग ढंग से गहराया है। जगमोहन की कहानी 'एक फैला हुआ बरगद एक घुटी हुई सांस' में नायक मानसिक अधीनता ठुकरा कर स्वतन्त्र सत्ता कायम करने का इच्छुक है—"मां, रजनी दी, छोटा भाई, राजेश और मैं—सब के सब, इस छांव के नीचे रह कर अपनी छोटी-छोटी छायाएं खो चुके हैं। मैं उस छाया से उठ कर एक आकार लेना चाहता हूं ताकि मैं भी महसूस कर सकूं कि मेरा भी एक व्यक्तित्व है......[१५]।" व्यक्तित्व संबंधी इस भटकन को ओ० पी० शर्मा सारथी की 'सड़क की यातना', अशोक जेरथ की 'एक बिखरी हुई शाम', सुभाष शर्मा की 'जेम्स एक पैथेटिक करेक्टर'; बलनील देवम् की 'जुड़ती हुई टूटन' जैसी कहानियों में देखा जा सकता है। यह भटकन अस्तित्व को इस कदर कचोटती है कि व्यक्ति अपने जन्म को ही नहीं जनक को भी कोसने लगता है—"इन लोगों ने मुझे क्या दिया है...... ? क्या दिया है इन्होंने ....? जन्म ! मैंने मांगा नहीं था। क्यों दिया..... जन्म देने के बाद अगर टुकड़े-टुकड़े करके मारना ही था तो क्यों पैदा किया .. .. ? क्यों मेरे अस्तित्व को इस कूड़ेदान में ला। पटका[१६]।"

यहां क्षणबोध की चर्चा भी अपेक्षित है क्योंकि आज व्यक्ति विशेष क्षण-क्षण में जीवित रह कर अपने अस्तित्व को अर्थ प्रदान करना चाहता है। अस्तित्ववाद का समर्थन करने वालों के मतानुसार–जीवन एक निरन्तर प्रक्रिया के समान है। यह पूर्णता की ओर सदैव अग्रसर रहता है लेकिन पूर्ण कभी नहीं होती—क्योंकि पूर्णता की सीमा कोई नहीं होती। इसका विकास जारी रहता है। इसको पूर्ण करने में कई स्रोत योगदान देते हैं। कुंठा एवं घुटन के कारण जीवन में व्याप्त तनाव को कम करने के लिए व्यक्ति क्षणिक सुख भी प्राप्त कर लेता है—"जितनी देर किसी वस्तु का सुख मिले उतना सही।

---

१५. जगमोहन—एक फैला हुआ बरगद एक घुटी सांस–(प्रिज्यों में बटी किरणें) पृ० ६४

१६. बलनील देवम्–एक भरा पूरा पुरुष–(उल्कापात)–पृ० १०८

सुख में जितने क्षण मिलें उन्हें तो प्राप्त करना चाहिए[१७]"। इस सुख को भोगने के लिए व्यक्ति नैतिक बंधन भी तोड़ डालता है—"लेकिन दुःख में यहां कौन साथ देता है। .. ...मैंने तो केवल उसके शरीर का आनन्द लेना था—अपने शरीर की भूख मिटाने के लिए। मैंने तो उसके काले घने केशों से आंख-मिचोली खेलनी थी—उसके उरोजों का गर्व तोड़ना था, रातों की तनहाइयां दूर करने के लिए उसकी बाहों का सहारा लेना था ताकि उसके यौवन की सुराही के कुल प्याले मैं भी पी सकूं[१८]"।

क्षण बोध के साथ-साथ आज के व्यक्तिमन की आतमपीड़ा तथा एकान्तिक अनुभूतियों का चित्रण इन कहानीकारों ने बड़े सूक्ष्म ढंग से किया है। श्रीमती राज भल्ला की 'एक अजीब सा कैदी' कहानी का नायक आतम-पीड़ा के क्षणों में सोचता है—"किसी-किसी मोड़ पर जिंदगी कितनी दर्द-नाक हो जाती है। कहीं...कहीं दर्द बस दर्द ही तो समूची जिन्दगी का राग नहीं[१९]।"

":... ..और मैं देखता रहा" के लेखक ने ऐसी आतमपीड़ा वादी स्थिति का चित्रांकन किया है जो सुख के क्षणों में भी नायक को व्यर्थता बोध से लाद देती है—;मेरे साथ वहां क्या हुआ, इसकी मुझे स्मृति नहीं। स्मृति है तो उस असह्य पीड़ा की जो मुझे कभी अर्ध-चेतन और कभी चेतन कर देती थी, और स्मृति है उस आतमपीड़ा की, उस उपेक्षा की और उस अभाव की जो मैंने वहां अनुभव किया[२०]।" जब स्थितियों की भयावहता अस्तित्व के संघर्ष को नकारने लगती है तो आतमपीड़ा और अधिक तीव्र हो उठती है—"उसे लगता है कि किसी अनचीन्ही शक्ति द्वारा घिरा हुआ वह चल रहा है जिसमें सिर्फ ऊष्णता है, आग है, वह महसूस करता है कि दो विरोधावस्थाएं उसको बहाये लिए चले जा रही हैं। बाहर की आग और अन्दर की शीत-लता—उसका अस्तित्व इन दोनों में लटका है[२१]।"

---

१७. दीदार सिंह—धुंधलके— पृ० ५२

२८. वही— पृ० २०

१९. राज भल्ला—ये तस्वीरें पृ० ३

२०. दीदार सिंह ....धुंधलके पृ० १०-११

२१. अशोक जेरथ—देवदार की छाया तले पृ० १९-२०

जीवनगत विसंगति निराशा एवं शून्यता का बोध हो जाने पर मनुष्य समस्त परिवेश से कट कर एक परिधि में सिमटना चाहता है जिसमें अपना अस्तित्व तलाश सके। परन्तु परिवेश का यह अलगाव उसे कभी-कभार इतना कुंठित कर देता है कि वह मृत्यु की परिकल्पना करने लगता है। रमेश मेहता की कहानी 'अधूरी कहानी का हीरो' का 'मैं' स्थिति की दुरूहता के कारण अपने को समूचे परिवेश से काट लेता है तथा अकेलेपन का लबादा ओढ़ कर अपने अस्तित्व का जायज़ा लेना चाहता है। लेकिन एकान्तिक क्षणों में उसे शून्यता हाथ लगती है और मौत के काले साये इर्द-गिर्द मंडराते प्रतीत होते हैं—"मेरा अन्तस यह कह रहा है कि आज तक एक अधूरी जिंदगी को ढोने वाले तुम इस कहानी को पूरा कैसे कर सकते हो? यह नितान्त असंभव है। मरना मेरी नियति है और मैं मर रहा हूं। फिर इससे क्या फर्क पड़ता है कि किन परिस्थितियों में मर रहा हूं, मस्तिष्क की नसें और अधिक तीव्रता से चटखने लगी हैं। अब नहीं बोला जाता .. मैं अपने परिवेश से कटता चला जा रहा हूँ .....बिल्कुल असंपृक्त, नितांत अचेतन[२२]।" अस्तित्व हनन् को भी मौत का ही प्रतिरूप स्वीकारा है—"नियति भी कैसी है? एक ओर आन, मर्यादा, आत्मसम्मान जैसी खोखली भावनाएं होती हैं, दूसरी ओर परिस्थितियों का ऐसा शिकंजा जबड़े बाये अदृश्य में प्रतीक्षारत होता है जो अकस्मात् व्यक्ति को धर दबोचता है। तब भावनाओं का कोई अर्थ नहीं रह जाता। अपने व्यतीत से भाव सूत्रों द्वारा जुड़े रहने का हठ संवेदनशील व्यक्ति की मौत होती है—न जीवितों में न मरों में[२३]।"

अस्तित्ववादी सिद्धान्तों के आधार पर किये गये उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जम्मू के हिन्दी कहानीकार भी हिन्दी-भाषी प्रदेशों के कहानीकारों की भांति जीवन सम्बंधी विभीषिकाओं, अवहेलनाओं, तथा जटिलताओं से प्रभावित हुये बिना नहीं रह सके; यह अलग बात है कि इन सिद्धान्तों का निरूपण अपनी कहानियों में कुछेक लेखकों ने ही किया है।

---

२२. रमेश मेहता—अधूरी कहानी का हीरो— पृ० ७

२३. ओम गोस्वामी—निर्वासित पृ० २१

'सेतुओं की खोज' का कवि—ओम प्रकाश गुप्त

डॉ० रतन लाल शान्त

ओम प्रकाश गुप्त आधुनिक संवेदना को कई कोणों से ग्रहण करते हैं। देखने की आंख उनकी अपनी है जो प्रकाशित वस्तु-स्थिति से सही बिंब ग्रहण करने की कोशिश करती है। उनका भोक्ता स्थिति को गहरे में भोगने को प्रयत्नशील दिखता है। अभिव्यक्ति की भाषा वे दो तरह की लेते हैं। एक तो वह जो गत दो तीन दशकों के रचना-प्रयास से सिद्ध है और समकालीन संवेदना के हर कठिन तथा सरल पहलू को शब्द देने में सक्षम है। यह शब्द कुछ विशिष्ट अर्थों में रूढ़ भी हुआ है। दूसरी वह है जो कवि के एकान्तिक अनुभव के मंथन से उपजती है। ऐसी भाषा भाव को सुनिश्चितता तथा स्पष्टता देती है और सही प्रेषणीयता प्रदान करती है, पर इसे प्राप्त कर पाना अनुभव के घनत्व तथा प्रयोग पर अधिकार के सीधे अनुपात पर आधारित होता है।

कवि के बारे में यह विचार कि वे 'अपने परिवेश के प्रति रागात्मक निष्ठा एवं संलग्नता'[1] से लिखते हैं, शायद पूरा सत्य नहीं। रागात्मकता कवि के कवीतर व्यक्तित्व में हो सकती है पर जिस मानसिकता की उपज उनकी कविताएं हैं, वह रागात्मक की अपेक्षा क्षोभात्मक है। कवि परिवेश की यथातथ्यात्मका के सामने कदम-कदम पर सवालिया निशान बनकर खड़ा होता है और बौखलाहट से अपनी अनास्था को प्रकट करता है। परिवेश जैसा ऊबड़-खाबड़ है, उससे आज के संवेदनशील कवि के मन में राग पैदा हो ही नहीं सकता, विराग भले ही हो। जब तक कि वह किन्हीं पारंपरिक सुरक्षाओं के

१. चर्चित कवि की 'सेतुओं की खोज' की भूमिका—'आरंभ'

कवच में आंख मूंद कर पड़ा न रहे। प्रस्तुत कवि परिवेश के साथ समझौता न करके ही रचना की शक्ति पाता है।

आज की कविता परिवेश की सही प्रकृति को समझने की कविता है। परिवेश पहले भी रचना को जन्म देता था पर तब वह विश्लिष्ट था तथा उसे सरल नियमों में ढाला गया था और सरलीकृत फार्मूलों — जैसे 'साहित्य समाज का दर्पण है' में उसकी आवश्यकता को स्वीकारा जाता था। नागर मशीनी सभ्यता ने मनुष्य की प्रवृत्तियों, यहां तक कि स्वभाव में भी परिवर्तन के बीज बोए हैं; मानव की अभिवृत्तियों (एटीट्यूड्स) के परिवर्तन से कुछ आधारभूत और पारिवारिक सामाजिक मूल्य भी बदल गए हैं। संवेदनशील कवि विषम सामाजिक तथा आर्थिक संबंधों-स्थितियों को जैसे झेलता है वैसा ही स्वर उसे तब दे सकता है जब वह भाषा में निजी गरिमा भर सके। श्री ओम गुप्त इस विषमता को झेलने की दो प्रतिक्रियाएं देते हैं। एक है मजबूरी की और दूसरी है विकल्प की असंभावना से जनित आक्रोश की। मजबूरी इसलिए नहीं कि उन्हें अपनी इच्छा के विरुद्ध जीना या स्थिति सहनी पड़ रही है बल्कि इसलिए कि वे अपनी इच्छा को स्पष्ट कार्यान्वित नहीं कर पाते :

क) आज मैं दादा की तरह सपने नहीं देखूंगा
इस कली को
किसी मंदिर में नहीं चढ़ाऊंगा
क्योंकि
किराए का यह कमरा मुझ से छूट जाए
यह मेरे लिए असह्य है। (मजबूर स्वर)

ख) यह क्या हो गया है
कि आँखों ने
आकाश की ओर
देखना छोड़ दिया है ? (पीपल के पत्ते)

कहा जा सकता है कि कवि का प्रधान स्वर यही है। काल्पनिक रंगों से बंधने का दंभ जब आत्मप्रवंचना हो तो यथार्थ के हर आयाम को समझना ही उसका सही आकलन होता है।

क) काफिले चलते

मगर
है चाल पर विश्वास किसको ?
आश्चर्य—
श्रम के देवता को
पंख झर जाने का डर है। (बहुत ऊंची है अटारी)

ख) आज ठंडा सूरज मेरी पीठ पर उतर आया है
उसका भार
मुझे -
सिर्फ मुझे सहना है,
अपने हिस्से के
इसी सूरज को
मुझे
सामने के चौराहे तक ले जाना है।
(सुनो मेरे साथियो, सुनो !)

कवि में ऐसे रचना क्षणों को भी पहचाना जा सकता है जब वह विवशता के दायरों से जूझता नज़र आता है। ऐसा लगता है कि विकल्प का वरण करने की ललक तो उसमें है, पर इस प्रक्रिया को सहन करते हुए दर्द का आभास उसे कचोटता रहता है—

लिख दूं सारी बात—
किया संकल्प—
मैंने—
कितनी बार,
उंगलियों के पोरों पर
लेकिन
हर बार
उतर आई
मनहूस थकन। (सूर्य की एक क़िरण)

इस संदर्भ में कवि के व्यक्तित्व के विद्रोही पक्ष को देखा जा सकता है। यह विद्रोह स्पष्ट ही किसी उद्देश्यवाद से नहीं बंधा बल्कि अपने परिप्रेक्ष्य के गहरे पर्यवेक्षण का परिणाम है। इस तरह की कविताओं के

उदाहरण हैं—'व्यवस्था की लोक कथा का कबन्ध', 'बस एक घड़ी बाद', 'एक नया पर्याय' प्रभृत्ति कविताएं वस्तुत: यथार्थ के प्रति कवि की दृष्टि ऐसे द्रष्टा की है जो इसे खामोश भोगने को अभिशप्त है। सवाल यह नहीं कि कवि यथार्थवादी है कि नहीं बल्कि यह कि यथार्थ के प्रति उसकी अभिवृत्ति क्या है। अभिशाप के भार से कभी उसका स्वर भारी हो उठता है तो कभी वह किशोर चंचलता से उसका उपहास उड़ाता है। इतिहास की गतिहीनता, जिसे आधुनिक तथाकथित 'बहुपरिवर्तनशील' जिंदगी में 'अघटना का ब्यौरा' भी कह सकते हैं, कवि में चुटीलापन पैदा करता है। इससे उसमें व्यंग्य का स्वर प्रमुख हो उठता है और भाषा में पैनापन आ जाता है। पर जहां प्रसंग भारी हो वहां व्यंग्य भी अर्थ के भार से भारी हो जाता है—

तुम्हें ढोते मर गया—
मेरा सुनहला इतिहास,
कल ही कहा था तुमने—
हमारे ही दम से है—
दीपकों में आग ... (सव्यसाची ! कौन हो तुम ?)

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि का व्यक्तित्व उस वृहत्तर संदर्भ में आंका गया है जो १९६०-७० के बीच नयी कविता ने निर्मित किया था और जिसमें नगर जीवन में व्याप्त अवमूल्यित जिंदगी का प्रामाणिक चित्रण मिलता है। उस जिंदगी ने कवि को बहुत जगह तोड़ा और कई बार उसे वरण, प्रतिबद्धता और विवशता के जैसे प्रश्नों के सम्मुख खड़ा कर दिया। यह ज़रूरी नहीं कि अहिंदी प्रदेश की कविता का रचना संसार हिन्दी प्रदेश से अलग या कुछ पीछे हो, पर इतना ज़रूर है कि हिन्दी प्रदेश में नयी विचार सरणि या काव्य-प्रवृत्ति के अभाव जब स्पष्ट तथा स्थापित हो जाते हैं तभी वे फैल कर संक्रमण करते हैं और अहिंदी प्रदेश में हिन्दी रचना की कई समानान्तर सरणियां निकालते हैं। क्रिया प्रतिक्रिया तथा स्थापना की इस शृंखला में समय लगता है। इतना ही समय समकालीन काव्य प्रवृत्ति को भौगोलिक दूरियों में व्याप्त होने में लगता है। १९६० तथा ७० के बीच की रचना सरणि को फैलने में और इस अहिंदी प्रदेश में आने में जो सामयिक और भौगोलिक अंतराल तय करना पड़ा होगा उस को श्री गुप्त नहीं लांघ सके हैं। समकालीन अर्थात सत्तरोत्तर कविता उस कटुता से मुक्त होने के प्रयास में है जिसने उस सातवें

दशक में रूढ़ लहजा दिया था। एक दृष्टि से यह रूढ़ि उसी रूढ़ि के समान है जो चौथे दशक में छायावादी कविता ने कोमल श्रोतृप्रिय स्वरों की रचना से स्थापित की थी। आठवें दशक के अंत के साथ अब यह कविता काफी सेट्ल हो गई है। शब्द प्रयोग में सावधान मितव्ययिता और अर्थ की पारदर्शिता पाई जाती है। व्यंग्य तीक्ष्णतर है, पर लहजा कटु नहीं। बिंब विस्तृत अर्थ की अपेक्षा एक केंद्राभिसारी चुभन देता है।

श्री गुप्त कहीं-कहीं बिंब की आधारभूत कसावट की ओर उचित ध्यान दे नहीं पाते, अत: यह वृत्तात्मक हो जाता है। बिंब का घनत्व और प्रभाव-तीव्रता जाती रहती है क्योंकि विशेषणपद लंबा और वर्णनात्मक हो जाता है। 'चट्टानों का दृश्य'—बताते हुए उन चट्टानों की विशेषताएं—(वे) 'सूरज की धूप में जली', 'पानी के थपेड़ों से बुझी' और 'कंकाल बनी' हैं—(मैं नहीं जानता)। 'भोर से सांझ तक पूरी कविता एक ही बिंब उकेरने का प्रयास है। ऐसी कविता कहानी का सा आनन्द देती है पर इस का प्रभाव तीव्र नहीं रह पाता। शायद ऐसी कविताओं की रचना प्रक्रिया में अनुभूति का क्षण उतना केंद्रोन्मुख नहीं होता। कभी तो ऐसी कविता विरोधाभास की प्रक्रिया के सहारे गढ़ी जाती है। जो कविता केवल बयान (स्टेटमेंट) देने की संभावना से बच नहीं पाती वह साधारण हो जाती है। उस में नयी कविता की रूढ़ शब्दावली तथा उस शब्दावली में गढ़े गये रूढ़ नारों की गूंज भी सुनाई देती है (इस मशीनी गड़गड़ाहट में, व्यथा निवेदन आदि)

यह ज़रूरी नहीं कि गीत आधुनिक संवेदना को संवाहित न कर पाये पर यह सत्य है कि गीत वस्तुत: उस अनुभूति को संगीत के आयास से सजाता है जो विचार भूमि पर कविता द्वारा पहले ही स्थापित हुआ होता है। जिसे नवगीत कहा जाता है वह उसी भावभूमि पर रचा गया है जिसे नयी कविता दो दशक में बना चुकी थी। इस सत्य का दूसरा पहलू यह है कि गीत छायावादी-रचना में ढलकर परिपक्वता की एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर चुका है कि छायावादेत्तर भावना का संवाहक होने में इसे और कुछ चरण पूरे करने होंगे, काफी बदल जाना होगा। श्री गुप्त के गीत प्रखर नहीं हैं। इन में संदर्भों को समवर्ती स्वर में ढालने का एक कृत्रिम प्रयास किया गया है। अवदान (मोटिफ या अंतर्कथा ?) की समानता के आधार पर दो उदाहरण लिए जा सकते हैं—

क) मरे हुए
चमगादड़ के डैनों से सजे हुए
बिजूखे भी नहीं हो तुम;
कौन हो तुम ?
सत्य के दावेदार,
कौन हो तुम ? (सव्यसाची ! कौन हो तुम ?)

ख) जो था बना बिजूखा वह धर्म खो गया है ।
(रंगों की राख)

'विजूखा' कवि का प्रिय अवदान है, जो उनको संप्रेषण का एक अच्छा साधन प्रदान करता है। ऊपर 'क' में सत्य के दावेदार के प्रति व्यंग्य इतना पैना हो जाता है कि वह बड़ी सहजता से विद्रूप की सीमा तक खिच जाता है। कृत्रिम जीवन का दंभ उखड़ के रह जाता है। बिजूखा चमगादड़ के डैनों से और भयावह हो उठता है। फिर जब सत्य का दावेदार बिजूखा भी नहीं हो सका तो उसका दंभ भी निराधार लगता है। अर्थ की पर्तें खुल जाती हैं और चुभन तेज होती है। दूसरे (ख) में धर्म को बिजूखा बनाकर जो प्रभाव पैदा करने की कोशिश थी, वह उस (धर्म) के, बाद में खो जाने से नष्ट हो जाती है। यहां नीति की विशदता ने धर्म को 'खो' जाने पर मजबूर किया है क्योंकि अन्यत्र इस गीत में रंग बेरंग 'हो' जाता है, बाज़ार नीलाम करके 'सो' जाता है, आदि।

कवि ने गीत अधिक नहीं रचे हैं पर उनका व्यक्तित्व इनके बगैर समझा नहीं जा सकता, क्योंकि गीत उनके कवित्व का एक छोर है; दूसरा छोर है 'सभ्य' परिवेश के छद्म पर क्षोभ। गीत वाला छोर प्रेम के क्षणों से बनता है। प्रेम की विषाद तथा उल्लास वाली अनुभूतियों के बीच भूलता है कवि, पर प्रेम के चिरंतन सत्य को कवि अपने व्यक्तिगत संस्पर्श से कोई भव्य गरिमा नहीं दे पाया है। अधिकांश प्रेम कविताएं भावुक रोमान के घेरे में घूमती हैं।

जब भी तुम चली जाती हो
कहीं—
(दो दिन के लिए ही सही)

मैं यूं ही रो देता हूं
अपनी कायरता को जीत नही पाता ! (एक अनुभूति)

ऐसे में सामान्यतः डर होता है कि भाषा लिजलिजी न हो जाए। 'बोधहीन' कविता का उदाहरण लिया जा सकता है। इस में कवि का मशीनी सभ्यता में बोधहीन हुए मन की संवेदनहीन ा (इंसेंसिटिविटी) को अभिव्यक्त करने का प्रयास है। कवि को लगता है कि बोध की चेतना को उन्होंने इस कद्र खो दिया है कि भीड़ ऊपर से गुज़रती है और किसी चुभन का आभास नहीं होता। मगर बोध शून्यता का चित्रण करते हुए कविता में जो मुहावरा प्रयुक्त हुआ है वह कवि के काफी सेंसिटिव्ह ही नहीं बल्कि सेंसुअस होने का आभास देता है—

तुम्हें छूने से रोमांच नहीं होता.........
× × ×
तुम्हारे अंगों से स्नेह भरी महक नहीं आती
बहुत पास आने पर भी ......
× × ×
हर मांसल स्पर्श
रेतीला भुरभुरा लगता है......... (बोधहीन)

वास्तव में ऐसी रचना स्थिति में कवि प्रसंग के पारंपरिक मानसिक वातावरण से मुक्त नहीं हो सका है। उसकी दृष्टि निस्संग नहीं हो सकी है। नितान्त आत्मीय क्षणों को आत्मीय भाषा दे पाना सामर्थ्य का द्योतक होता है। उपर्युक्त कविता के अतिरिक्त ऐसे ही उदाहरण देने वाली कविताओं में 'समायोजन' उल्लेखनीय है। इसमें कवि 'बदबू' जैसी 'अवांछित' चीज को भूलने के लिए 'उभरता ...तुम्हारा वक्ष, जिस पर से जानबूझ कर तुमने आंचल सरका दिया है' का सहारा लेता है। यहां भाषा केवल वर्णन कर पाती है, उसमें वे अर्थछायाएं या व्यंजनाएं नहीं आ पातीं जिनसे प्रसंग की अर्थवत्ता अधिक व्यापक संदर्भ में ली जा सके। जानबूझ कर आंचल सरकाने में ही आकर्षण पाने की कवि की प्रवृत्ति 'कितने अंतराल के बाद' नामक कविता में भी दिखती है जहां 'अंधेरे की हर पर्त चिलमन बन के' घिरने में सौंदर्य वृद्धि दिखती है। रहस्यमयता का वातावरण कवि को प्रिय लगता है।

कवि की सशक्त कविताओं में 'सेतुओं की खोज', 'दुर्भाग्य', 'बस एक घड़ी बाद' 'एक एब्सर्ड शाम' तथा 'सड़क पे खड़ा एक बेजान कंधा' हैं। इनमें उनकी रचना प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि चिन्ह मिल जाते हैं। 'सेतुओं के बीच' कवि कीस्वेच्छापूर्ण सामाजिक भूमिका का किसी होहल्ले के बगैर स्वीकरण है, 'दुर्भाग्य' में अपनी अशक्त स्थिति तथा परिवेश की नकली चकाचौंध पर अच्छा व्यंग्य किया गया है। 'बस एक घड़ी बाद' में कवि अपने अति संवेदक मन से खुद अपने युग की गति के सामने एक अबूझ प्रश्न चिन्ह बन कर खड़ा हो जाता है। 'एक एब्सर्ड शाम' कवि द्वारा कथा तथा कथन शैली पर पाए गए अधिकार की प्रतीक है। 'सड़क पर खड़ा एक बेजान कंधा' फिर उसी युग को उघाड़ देती है जिसने मनुष्य को निरीह बना दिया है। इस का व्यंग्य गहरे चुभ जाता है।

इस प्रकार कवि हिन्दी प्रदेश से दूर इस उत्तरी क्षेत्र में रचना की मानसिकता का एक उत्तम उदाहरण पेश करता है।

अराजकता के विरुद्ध जम्मू की हिन्दी कविता

—दीदार सिंह

जब देश में सुव्यवस्था हो तो सभी लोगों को समान रूप से उन्नति करने का, अपनी प्रतिभा के विकास का, अपने हितों की रक्षा का और अपने धर्म तथा संस्कृति के प्रचार का स्वतन्त्र रूप से अवसर तथा प्रोत्साहन मिलता है। जब से व्यक्ति ने सभ्य होने का दावा किया है तभी से उसने शान्त जीवन व्यतीत करने के लिए व्यवस्था को भी स्वीकार किया। व्यक्ति स्वभावत: व्यवस्था-प्रेमी है या कि अराजक है ?—श्री सच्चिदानन्द वात्स्यायन इसे विवाद का विषय मानते हैं। "व्यक्ति और व्यवस्था" शीर्षक के अन्तर्गत पांच और छ: दिसंबर १६७७ को आकाशवाणी से प्रसारित अपने 'राजेन्द्र प्रसाद स्मारक व्याख्यान' में श्री वात्स्यायन ने यह प्रश्न उठाया था और फिर अपनी निजी राय देते हुए कहा था—"मानव विवेक सम्पन्न प्राणी है और उसका आत्मचेतन विवेक उसके मानवत्त्व का प्रमाण है—इस लिए मेरी प्रतिज्ञा यही होगी कि मानव व्यक्ति व्यवस्था को सहज काम्य और स्वीकरणीय मानता है और विवेक के कारण ही उसे अराजक न कह कर स्वाधीन कहना अधिक संगत है।" लेकिन "सर्वत्र स्वाधीनता और व्यवस्था के बीच एक तनाव और संघर्ष की स्थिति है और कहीं कहीं तो इस संघर्ष में स्वाधीनता का पक्ष परास्त भी हो चुका है।"

इस टकराव का कारण बताते हुए आपने कहा था—"बल का क्रमश: कम से कमतर संस्थानों अथवा बिन्दुओं में संचय होते जाना टकराव की भूमिका का पहला मान-चित्र प्रस्तुत करता है। आज हम इस बात को अच्छी तरह पहचानकर यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या सत्ता के फिर से विकेन्द्री-

करण की कोई सफल योजना बनाई जा सकती है जिससे इस टकराव की सम्भावना को निरस्त किया जा सके और उसकी ऐतिहासिक अनिवार्यता के तर्क का खंडन किया जा सके।"

इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति और व्यवस्था के बीच टकराव का मुख्य आधार आर्थिक स्तर पर असमानता का रहा है। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना कोई भी स्वतन्त्रता किसी काम की नहीं। जब 'भूखे भोजंन न होए गोपाल' तो कोई और काम कैसे हो सकता है। हमारे देश में स्वतन्त्रता के बाद जो आंदोलनों की कड़ी चली आ रही है—उस में आरंभ से नक्सलवादियों के आतंक तक और फिर अब हरिजनों के साथ संघर्ष का मूल कारण यह आर्थिक पृष्ठ-भूमि ही चली आ रही है। इसे चाहे कोई जातीय रंग दे या छूआ-छूत की समस्या बताए लेकिन इस सारे झगड़े का मूल कारण आर्थिक असमानता ही है। इस आर्थिक होड़ ने न केवल देश के विभिन्न वर्गों में ही अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी कई तनावों को जन्म दिया है। श्री वात्स्यायन ही के शब्दों में........"एक आर्थिक होड़ में पड़ जाना ही वह चूहा-दौड़ थी जिसने न केवल बहुत से मानव-मूल्यों को उपेक्षणीय बना दिया बल्कि कुछ ऐसी प्रवृत्ति पैदा कर दी कि हम मूल्यों के चिंतन से ही क्रमशः विमुख होते गये। यहां तक हम धड़ाधड़ नये कानून बनाने के उत्साह में यह भी लगभग भूल गये कि कानून-मात्र का आधार कोई नैतिक मान-दण्ड होता है और इस लिए नये कानून बनाते समय या बनने देते समय हमें यह पूछने की भी सुध नहीं रही कि प्रस्तावित कानून का नैतिक आधार क्या है?"

यों तो कोई भी व्यवस्था व्यक्ति को सदा के लिए सन्तुष्ट नहीं रख सकती है। इतिहास का यह स्वाभाविक चक्र है कि जब किसी देश में क्रान्ति आती है तो उसके बाद कई सुधार होते हैं—कई नये कानून बनते हैं। लेकिन इस नई व्यवस्था में कुछ त्रुटियां रह जाती हैं या नये कानूनों को कार्यान्वित रूप देने में कुछ ढील हो जाती है। फिर क्या होता है कि कुछ समय बाद समाज में धीरे-धीरे असन्तोष पनपने लगता है जो अंततः ज्वाला-मुखी का रूप धारण कर लेता है। जब ज्वालामुखी फटता है तो देश में फिर से क्रान्ति आती है और यूं यह इतिहास-चक्र सतत चलता रहता है। यह चक्र चाहे एक वर्ष में ही पूरा हो जाए या एक शताब्दी में लेकिन इसकी

इस स्वाभाविकता में अन्तर नहीं आता ।

कई बार अराजकता क्रान्ति को जन्म देती है जैसे रूस में हुआ तो कई बार क्रांति के बाद अराजकता फैल जाती है जैसे फ्रांस में। क्रान्ति के अग्रदूत ही कई बार सत्ता संभालने पर तानाशाह बन जाते हैं जिसका चित्रण रूसी उपन्यासकार पास्टरनाक के उपन्यास 'डाक्टर ज़्हीवागो' में मिलता है।

देश के कुछ स्वार्थी तत्व भी किसी सुव्यवस्था को चलने नहीं देते क्योंकि इससे उनके स्वार्थों की रक्षा नहीं होती। प्रजातान्त्रिक प्रणाली में जहां सबको समान दर्जा और समान अधिकार प्राप्त हों वहां व्यक्तियों के परस्पर हितों का टकरा जाना स्वाभाविक ही है। यह टकराव कभी तो व्यक्ति के बीच और कभी व्यक्ति तथा व्यवस्था के बीच हो जाता है।

यदि हम सुप्रसिद्ध समाज-शास्त्री और राजनीतिज्ञ लास्की के इस नियम पर चलें कि आपको अपना बाजू वहां तक फैलाने की स्वतन्त्रता है जहां आपका हाथ दूसरे की नाक पर जाकर न पड़ता हो, तो टकराव की स्थिति से बचना असंभव न होगा।

हमारे देश के कुछ भागों में कई बार अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हुई है। आपात्कालीन स्थिति को ही लें तो इसका समर्थन करने वालों की यह दलील थी कि देश में अराजकता फैल गई थी, इस लिए आपात्कालीन स्थिति की घोषणा करनी पड़ी। जबकि इसके विरोध में यह कहा जाता है कि वास्तविक अराजकता आपात्कालीन-स्थिति के दौरान रही है।

अराजकता का सीधा-सादा अर्थ है जहां कानून की कोई व्यवस्था न रही हो और हर कोई मनमानी कर रहा हो। लोगों की जान और माल की सुरक्षा की गारंटी न हो।

इस दृष्टि से देखें तो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में यह अराजकता सदैव बनी रहती है। उद्योगपति या व्यापारी जब चोर बाज़ारी, मिलावट और करों की चोरी जैसे काले धंधे करते हैं तो यह कानून की उल्लंघना हुई। इस प्रकार जब कुछ लोग कानून अपने हाथों में लेने का प्रयास करते हैं तो वे अराजक माने जा सकते हैं। हमारे शिक्षा-संस्थान तो राजनीति और

अराजकता का केन्द्र बन गये हैं जहां विद्यार्थियों की बढ़ती हुई अशान्ति कानून और व्यवस्था की गंभीर समस्या खड़ी कर रही है।

जिस राजनैतिक दल या श्रमिक संगठन का जी चाहता है वही हड़ताल, बंद या घेराव करके तोड़-फोड़ करने लगता है और कानून को अपने हाथों में ले लेता है। जन-संचार और जन-व्यवस्था का प्रबन्ध नष्ट-भ्रष्ट करके रख दिया जाता है। अपनी मांगें मनवाने के लिए कई प्रकार से दबाव डाले जाते हैं और अनिवार्य सेवाओं में गतिरोध पैदा करके जन-जीवन से खिलवाड़ किया जाता है।

यह सब अराजकता नहीं तो और क्या है? सभी वर्गों में दिन-प्रति दिन हिंसा बढ़ती जा रही है। बापू के अहिंसात्मक सत्याग्रह को हिंसक कार्य-वाहियों से कलंकित कर दिया गया है। सत्याग्रह के नाम पर पहले तो प्रदर्शन किया जाता है, फिर प्रदर्शनकारियों को उत्तेजित किया जाता है—उत्तेजित होकर वे हिंसा पर उतारू जाते हैं और उन्हें गांधी जी के आदर्श भूल जाते हैं—गांधी जी के नाम पर की गई प्रतिज्ञा भी भूल जाती है—फिर वे यह नहीं देखते कि वे राष्ट्र की सम्पत्ति को हानि पहुंचा रहे हैं। अब यदि जिन पर व्यवस्था का उत्तरदायित्व है—वे इन्हें रोकते हैं तो उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि उन्होंने प्रदर्शनकारियों पर अत्याचार किए—ज़्यादती की। फिर अधिकारियों पर जांच आयोग बिठाने के लिए और हिंसा रोकने की कार्यवाई की जांच करवाने के लिए दबाव डाला जाता है।

कुछ लोग स्वतन्त्रता को लाइसेंस समझते हैं कि वे इसे जैसे चाहें प्रयोग में ला सकते हैं और उनकी अनुचित कार्यवाहियों के लिए भी उन्हें कोई न रोके।

लेकिन बुद्धिजीवी एवं न्याय-प्रिय व्यक्ति हर प्रकार की ज़्यादती का डट कर विरोध करता आया है। साहित्यकार अथवा कवि तो सुहृद-व्यक्ति होता है—वह किसी प्रकार का अन्याय नहीं सहन करता। यह अन्याय चाहे व्यक्ति की ओर से हो, समाज की ओर से या व्यवस्था की ओर से—कवि ने सदैव इसके विरुद्ध वक्तव्य दिया है। व्यक्ति जब स्वतन्त्रता को लाइसेंस समझे तो अराजकता फैलती है और जब व्यवस्था की ओर से अधिकारों का अन्धाधुन्ध अनुचित प्रयोग होने लगे तो भी अराजकता फैलती है जिसका विरोध निष्पक्ष साहित्यकार अथवा कवि करते आए हैं।

उक्त संदर्भ में यदि जम्मू कश्मीर की हिन्दी कविता का अवलोकन करें तो इसमें भी ऐसी अराजकता के विरुद्ध प्रबल एवं प्रखर स्वर सुनाई देता है। चाहे यह स्वर एक नियमित आन्दोलन के रूप में न उभरा हो तो भी प्रत्येक कवि के मुख से समय-समय पर यत्र-तत्र स्वाभाविक रूप में ही इस की अभिव्यक्ति हुई है।

अराजकता में हिंसा का खुला प्रयोग तथा राष्ट्र-सम्पत्ति की हानि तो होती ही है; हड़तालों आदि से उत्पादन पर भी बुरा असर पड़ता है। श्रमिकों के वेतन में कमी आती है और उत्पादन कम होने से देश की पर-निर्भरता बढ़ती है तथा कीमतें आकाश को छूने लगती हैं। इसी आर्थिक अराजकता के विरुद्ध डॉ० ओम प्रकाश गुप्त का श्रमिकों से यह 'आग्रह' है—

हे श्रमिक बन्धु
गिराना चाहो तो गिराओ
अवश्य गिराओ
पर कारखाने की दीवारों को नहीं
बल्कि श्रमिक और मालिक के बीच खड़ी
मत-भेद की दीवारों को
जिससे आपसी प्रेम जागृत हो।

स्वर्गीय शंकर शर्मा पिपासु इस अराजकता के आतंक को देख अत्य-धिक दुःखी हुए थे जिसका प्रमाण उनकी कविता 'मैं क्या बोलूं' में विशेष रूप से मिलता है—

चिर साध यहां सब हुई विफल
है वहां महागर्व उथल-पुथल
है कैसे वह चंचल अविफल
हूँ इसी लिए मैं सतत सजल
छलमय के सन्मुख कह कैसे
सरस सरल मन खोलूं
मैं क्या बोलूं।

परिस्थितियों के आगे घुटने टेकना कवि के स्वाभिमानी मन को स्वीकार्य नहीं। अपनी 'रणभेरी' कविता में पिपासु जी लिखते हैं—

आज न बल है विद्रोही बन
कर मैं ऊंचा शीश उठाऊं
किन्तु हठी मन कब माने
मैं जग के आगे शीश झुकाऊं ।

लूट-खसूट की भी एक सीमा होती है और आज का पूंजीपति भी यह महसूस करने लगा है कि उसकी मनमानी का समय अब लद गया है । यही कारण है कि अब वह अपने किए पर पश्चाताप करने लगा है—

एक इशारे से उंगली के
शत् हृत–भू भूचाल बनाए
दानवता के मानवता को
मैंने कितने रूप दिखाए
आज वही शोषित जन मिल
कर आए प्रासादों को ढाने
बने प्रलय की ज्वाला वे तो
आए मुझको जलाने ।

अराजकता की झंझा का आभास स्वर्गीया सपन माला ने भी पाया था और चिन्ता प्रकट करते हुए कहा था—

सरलता ने यह पूछी बात
यदि है यह संकटमई रात
न जाने कैसी हो प्रभात
इसी लिए आप चेतावनी देती है—
कहीं दीपक न बुझ जाए
कहीं तेल न लुट जाए
कहीं न बत्तियां रीतें
कहीं दीवार न छूट जाए
यही घड़ियां हैं जीवन
इन्हें जीवन में अपना लो ।

जन-कल्याण की कामना करते हुए और समस्त मानवता के हितों की रक्षा के लिए श्री सुभाष भारद्वाज ने भी अराजकता का अपनी कविताओं

में डट कर विरोध किया है । यह अराजकता चाहे कुछ भ्रांत लोगों की ओर से हो अथवा कानून की आड़ में व्यवस्था की ओर से—आप कहो किसी भी रूप में मान्य नहीं । ऐसा ही स्वर मोहन निराश, निर्मल विनोद तथा अशोक जेरथ की कविताओं में भी सुनाई देता है ।

जीतेन्द्र ऊधमपुरी की अराजकों को चुनौती है—

तुम
मेरा गला दबाकर
मार दोगे मुझे
मैं मरूंगा नहीं !
अपनी आवाज़ से
शब्दों के ताने-बाने से
युगों युगों तक
पहचाना जाऊंगा
तुम्हारे चाहने पर भी
मैं मरूंगा नहीं
मेरा वध संभव नहीं !!

यहां तो लोग बातों से दूसरों का पेट भरना चाहते हैं । खोखली नारावाज़ी अधिक चलती है । श्री ऊधमपुरी का कहना है—

बांध बातों के पुल
तुम किसी को
पार नहीं ले जा सकते
किसी
मरूस्थल में पानी
पतझर में फूल
नहीं खिला सकते ।

इसी अराजकता के तूफानों से मांझी को सावधान करते हुए श्री सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम् लिखते हैं—

सावधान रे मांझी !
झंझा का यह मौन

बना रहे जब तक
सह न पाओगे
तूफानी थप्पड़
यदि टूट गया बांध
हवा हो जाओगे ।

अथवा :—

कारावास में
घुटन बढ़ती जाती है
सिसकियों का प्रवाह
गतिमान रहता है ।

इन स्वार्थी और तथाकथित नेताओं तथा जन - सेवकों पर रमेश मेहता का कटाक्ष देखिए—

.... मैं जानता था
जि तमाम दरबारी
तब अपना-अपना उल्लू सीधा करने लगेंगे
मैं स्वयं राहों का अन्वेषी बना था ।

यही नहीं, यहां तो हमारी चेतना पर भी पहरे हैं—

एक पेड़ है
मेरे आंगन में
जिसे
मैं ने
जब जब काटा
वह
और अधिक फैला
डटा रहा
एक अनदेखे प्रहरी सा
मेरी चेतना के द्वार पर ।

श्री मन्सा राम चंचल के कथनानुसार इन बीहड़ रास्तों को हमे स्वयं समतल करना होगा—

इसलिए कि रास्ते बीहड़ बड़े हैं
और चट्टानें खड़ी हैं
बर्फ की परतें जमी हैं
और उमड़ते मेघ हैं
हम प्रतीक्षा कर रहे हैं
बर्फ पिघले
मेघ बरसें
और पत्थर चूर होकर
यों हमारे मार्ग को
प्रशस्त कर दें।

इसी प्रकार श्री चन्द्र कान्त जोशी लिखते हैं—

तरल सागर की लहर पर पोत चलते हैं अनेकों
पार जाने के लिए तब दिल मचलते हैं अनेकों
जब मगर तूफान उठते, कौन किस को थामता है
एक छू लेता किनारा, एक भंवर में डूब जाता।

श्री सत्यपाल श्रीवत्स व्यक्ति की उच्छृंखलता का कारण उसका अहम् मानते हैं—

(मगर) धरनी का इन्सान लड़ता है फिर भी
झगड़ता है रोज़, कतल करता है खूब
वह
तो भी सदा बुद्धिमान होने का भरता है दम
धर्मात्मा बनने का ढोंग भी करता है साथ
वह प्रदर्शन भी करता है
सर्वज्ञ होने का
मगर
उसकी यह आत्म-प्रशंसा
केवल उसका अहम् है एक
एक बहाना है केवल।

दो सांडों के मल्ल-युद्ध में खेत की ही हानि होती है—इसी प्रकार

स्वार्थों के मल्ल-युद्ध में जनता को कष्ट झेलने पड़ते हैं। इन स्वार्थियों का भंडा फोड़ते हैं श्री देव रत्न शास्त्री—

और इधर मैं एक कोने में खड़ा
समझता हूँ मूर्खता भीड़ की
क्योंकि जोड़ी है उसने
आत्मीयता
खूंखार सांडों के साथ
मैं चिल्ला रहा हूं
ओ बेवकूफो !
ये सांड हैं
इस मंडी के नामी पहलवान हैं
सहानुभूतिशून्य और वीतराग हैं।

इसी लिए शास्त्री जी सावधान करते हैं—

जागो आज़ादी के रक्षक
जाति-मान गौरव के प्रहरी
खोकर जो पाया है तुमने
पाकर फिर उसको मत खोना
चोर लुटेरे घात लगाएं
वैभव से तुम हाथ न धोना।

श्री देव रत्न शास्त्री की निम्नलिखित पंक्तियां आपात्कालीन अराजकता का चित्रण करती हैं—

शासक बने थे राज वैभव के उपासक
शक्ति की मदिरा पिए पागल बने
कर्तव्य-पथ से आंख थी बस मूंद ली
कोष अधिकारों का था हथिया लिया।

और फिर हर बात की कोई सीमा होती है। श्री सुशान्त चौधरी के शब्दों में हाथ पर हाथ धरे रहने से काम नहीं चलेगा—

आखिर कब तक
मूंद कर अपनी आंखें

साहस उत्साह
उत्सुकता छोड़ कर
आस पास फैले
सभी रास्तों से
निज को काट कर
अपने भीतर
मात्र एक ज्योति पुंज की
आस लिए
बैठा रहूँ यों ही ?

श्री भुवन पति शर्मा ने इन अत्याचारों शोषण और अराजकता पर एक प्रश्न-चिन्ह जड़ दिया है—

मैंने क्या किया है ?
हेमन्त कुमार वसु के
इस प्रश्न का उत्तर
खोजना चाहता हूं मैं ।

यों तो आशा के सहारे ही जीवन आगे चलता है और फिर कवि तो कभी किसी घोर अंधकार में भी निराश नहीं हुआ। देखिये डा० ओम प्रकाश गुप्त किस प्रकार बुझे हुए हृदयों में आशा के दीप जलाते हुए धैर्य बंधाते हैं—

प्रकाश का विहग पुनः
क्षितिज के पार उड़ चला
रिक्त नीड़ सोचते—
क्या हुआ यह क्या हुआ
छोड़ दी है हारिलों ने
आज सारी आस्था
उड़ सके न सूर्य तक
आस को सोपान दो
तूफान की चपेट को
वक्ष तान कर सहो।

इन उदाहरणों से इस बात में कोई सन्देह नहीं रहता कि जम्मू कश्मीर प्रदेश के प्राय: सभी हिन्दी कवियों ने हर प्रकार के अन्याय, शोषण और अराजकता का अपने-अपने स्थान पर स्वतन्त्र रूप से डट कर विरोध किया है। इस बात का प्रमाण लगभग सभी कवियों की रचनाओं से मिल जाता है। कोई भी बुद्धिजीवी किसी प्रकार की भी अराजकता का समर्थन नहीं करता और फिर कवि तो बुद्धिजीवियों में सर्वेसर्वा होता है।

————

कविता जो साक्षी है

—डॉ० ओम प्रकाश गुप्त

आलोचकों का एक बड़ा वर्ग मानता है कि कविता कवि के व्यक्तित्व की सदैव साक्षी रही है। यह सत्य शशिशेखर की कविता के अध्ययन से और भी पुष्ट होता है। मेरे सामने हैं शशिशेखर की कविताओं के दो संकलन- "थोड़ा-सा आकाश" और "एक अपरिचित आकाश।" इस तरह, ये कविताएं साक्षी हैं—थोड़े-से अपरिचित आकाश की; आकाश जो अपना होकर भी अपनेपन का बोध नहीं दे पाता। ये कविताएं साक्षी हैं कवि के व्यक्तित्व की; व्यक्तित्व जो पूरी तरह अपने परिवेश से, अपने आस-पास के सन्दर्भों से जुड़ा हुआ है।

शशिशेखर को कश्मीर का प्रतिनिधि हिन्दी-कवि माना जा सकता है और कश्मीर के प्रतिनिधि कवि की रचनाओं का अध्ययन आरम्भ करने से पूर्व हमारे मन में कुछ विशिष्ट चित्रों का उदय होना स्वाभाविक है। ये चित्र काफी रंगीन होते हैं। फूलों और उन फूलों पर उड़ने वाली तितलियों की तरह रंगीन, खुले आकाश और आकाश में छितराए इन्द्रधनुष की तरह रोमांचक। हम सोचते हैं—इन कविताओं में होगा झीलों का उन्मादक उभार, नदियों की होगी चंचलता, नीली आंखों के संकेत होंगे, सन्तूर और रुआब के गीत होंगे—अर्थात् होगी-थोड़ी-बहुत जरूर होगी एक रोमांटि छटा, खूबसूरती की एक मोहक अदा। लेकिन हम चौकन्ने हो जाते हैं जब अपने कविता-संकलन को प्रस्तुत करता हुआ कवि स्वयं कह देता है :

"ज़िन्दगी के अब तक के जो अनुभव मेरे हैं, वे अधिकांश में घुटन के, टूटन के, आक्रोश के, कड़ुआहट के, उबकाई के हैं।"

यह कैसी विडम्बना है? ये कैसे स्वर हैं ? संगीत के सप्तक में इन स्वरों की भूमिका (या एण्टी भूमिका) क्या है, कहां है, कैसी है? क्या ये मात्र शब्द-जाल है ? ओढ़ी हुई नारेबाजी है ?

नहीं ! शशिशेखर को जिन लोगों ने देखा है, उसकी बातें सुनी हैं उन्हें शशिशेखर के विविध पोज़ इन कविताओं में स्पष्ट दिखाई देंगे। व्यवस्था की चक्की में पिसता व्यक्तित्व, उससे समझौता करने की मज़बूरी झेलता व्यक्तित्व, बौखलाहट और विद्रूप भरी कड़आहट उगलता व्यक्तित्व—शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है; साफ साफ अंकित हुआ है। उसके जीवन की सारी घुटन बड़ी बेबाकी से कही गयी है—

''अच्छा है, प्रश्नों में ऐंठने के बदले
एक पालतू वाक्य
जो सूखी हड्डी के लिए
हर इशारे पर दुम हिलाता हुआ
व्यवस्था के पीछे-पीछे चले।''

लगता है अंत तक पहुंचते कवि व्यवस्था से समझौता कर लेता है लेकिन बात ठीक इसके उलट है। अन्तर किसी भी स्तर पर समझौतावादी नहीं हो पाता। अपनी कविता में कवि का यह आत्म-वक्तव्य निहायत सार्थक और ईमानदारी की गंध से भरपूर है। अपने 'थोड़े-से आकाश' का परिचय देता शशिशेखर बड़ी टीस के साथ अपने 'मैं' का परिचय देता है—

''मैं, जिसने अंकुराते ही यह अनुभव किया था कि जिस छोटे-से आकाश-तले उसने आंखें खोली हैं वह उसका अपना नहीं है।''

एक ओर परिवेश उसे आउटसाइडर बनाता है तो दूसरी ओर यह प्रक्रिया बचे-खुचे सम्बन्ध-सूत्रों के प्रति घोर वितृष्णा और विरक्ति को जन्म देती है। यह प्रक्रिया उसके अन्तर को खाए जाती है और वह एक अभिशप्त व्यक्ति की पीड़ा संजोये, सड़कों-पगडंडियों पर निरुपाय, उपराम घूमता है। फूलों की खुशबूदार हवा उसकी बांसुरी पर कोई मीठा स्वर नहीं छेड़ पाती—

''लग रहा मुझको कि अस्ताचल बना हूं
सह रहा हूं डूबना यों सूर्य का
निरुपाय

जैसे बोरता हो प्राण को कोई पुराना शाप''।

वैसे, शशिशेखर की कविता में सभी अस्तित्ववादी ध्वनियां मौजूद हैं, 'एब्सर्ड' अपनी पूरी 'अर्थवत्ता' के साथ उसकी कविता में मौजूद है। लेकिन यहां ये सारी ध्वनियां—सारी प्रवृत्तियां किसी पहले या दूसरे विश्व युद्ध की देन नहीं हैं; उसके अपने इतिहास की उपज हैं, खासकर विगत कुछ दशकों के इतिहास की।

शशिशेखर की कविता का प्रमुख स्वर निराशा का है। यह निराशा जीवन की निरर्थकता से उपजी है, बार-बार मिथ्या सिद्ध होने वाली आस्था के प्रति उपजने वाली मानसिक प्रक्रिया की सहज निष्पत्ति है। यह निराशा कुछ न कर पाने की मजबूरी की स्वाभाविक परिणति है। यह ऐसी बाढ़ है जो सभी को अपनी लहरों में समेटती चलती है। यह निराशा सर्वग्राही है, संक्रामक है—

''सलाखों के पीछे से
पंखुड़ी पंखुड़ी मरते सूरज को
चुपचाप देखने के अतिरिक्त तुम कर ही क्या सकते हो
तुम्हारे चारों ओर फैली अर्थहीनता संक्रामक है।''

यह निराशा वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर टूटन पैदा करती है। कवि की विडम्बना यह है कि वह बुद्धिजीवी है। सामान्य व्यक्ति जिन परिस्थितियों में तटस्थ रह कर जी लेता है, कवि को उनके प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण बनाना पड़ता है और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने का जोखिम भी उठाना पड़ता है। कवि की नियति और भी भयानक है क्योंकि उसे एक संकल्प लेकर परिस्थितियों से जूझना पड़ता है, वह मोम के पंखों के सहारे सूरज तक उड़ान भरने की कोशिश करता है और मरजीवा बन कर खारे सागर को खंगालता है। सच्चाइयों की अप्रत्याशित कड़ुआहट उसे चौंका देती है और उसकी अभिव्यक्ति बहुत तीखी हो जाती है—

''मोती कहां हैं ?
काली लहर के नीचे एक ऑक्टोपस है।''

इस निराशा का ही एक पहलू है—असमर्थता-बोध। कवि बहुत अच्छी तरह जानता है कि भूमिका का चयन कर पाना उसके बस की बात

नहीं। व्यवस्था ने उसे रोटियां दी हैं तो बदले में उसके व्यक्तित्व को जड़ बना दिया है। शशिशेखर की ये पंक्तियां प्रतीकात्मक संदर्भ में ही नहीं, सपाट अभिधात्मक संदर्भ में भी महत्त्वपूर्ण हैं :

"नारे खुरचने और पोस्टर चिपकाने के लिए
तुमने मेरी आत्मा को मिट्टी को मिट्टी की दीवार बना दिया है।"

व्यवस्था में जकड़ा उसका व्यक्तित्व मुक्ति के लिए छटपटाता है। मुट्ठियों में आक्रोश उबलता आक्रोश भर कर वह सड़कों पर निकल पड़ता है। लेकिन व्यवस्था एक पैरालिटिक प्रभाव की भांति उसकी मांस पेशियो को पंगु बना देती है। एक हद तक वह इस मजबूरी से पीड़ित रहता है कि वह चाह कर भी कुछ कर नहीं पाता। अपनी असमर्थता की वह चिल्ला-चिल्ला कर घोषणा करता है—

"नहीं कुछ नहीं होगा—
बन्द मुट्ठियों में उबलता आक्रोश
जेबों में पड़ा-पड़ा सड़ जायेगा।"

लेकिन इस के बाद उसकी अनुभूति अधिक दर्दनाक हो उठती है। वह अपने आक्रोश पूर्ण व्यक्तित्व को असहाय होता देख चीख-चीख पड़ता है। यह चीख शारीरिक पीड़ा से कहीं अधिक सांघातिक मानसिक वेदना की द्योतक है। व्यवस्था की गुलामी उसके व्यक्तित्व को बेहद बेगाना बना देती है। यह अनुभूति और उसके प्रति कवि की प्रतिक्रिया का सारा प्रासेस इतना सहज रूप से अभिव्यक्त हुआ है कि इसे ओढ़ी हुई शब्दावली मानना अपने को धोखा देना है—

अर्थात्— "मित्रों और परिचितों के साथ
सूरज के निर्वासन पर
ज़ोरदार बहस के मध्य
टेबल पर हाथ पटकना
और पाना कि तुम
अपना हाथ दफ्तर की फाइलों में भूक आए हो।"

कवि ने अपने व्यक्तित्व को सहेजे रखने की भरसक कोशिश की है। मर्मांतक परिस्थितियों में वह पलायनवादी बना है तो अपने आपको कमरे में

बन्द रख कर जीने की कोशिश भी उसने की है। उसने अनेक बार सोचा—'नहीं, मैं द्वार नहीं खोलूंगा।' लेकिन फिर अपनी मजबूरी पर वह कह उठा है—''किन्तु कब तक, किन्तु कब तक (मैं अपने को बचाये रख सकूंगा) ?''

सारा इतिहास, घटनाओं (और दुर्घटनाओं) की सारी शृंखला उसके लिये निरर्थक है। कारण, उसकी सारी अनुभूतियां अन्ततः उसके अन्तर में गहरे पैठे मृत्यु बोध में घुलमिल जाती हैं—

''घटनाओं के बदबूदार नाले में
एक सड़ी लाश-सा फेंक दिया गया हूँ।''

हम कह चुके हैं कि शशिशेखर की कविता एक ऐसे युवक की अनुभूतियों की गवाह है जिसके लिए प्रत्येक सार्थक कहा जाने वाला संकेत निरर्थक बन चुका है। यहीं उसकी कविता जीवन के एब्सर्ड संदर्भों की सूचक बन जाती है; यहीं वह अपनी अनुभूतियों को कोई नाम नहीं दे पाता; उसके अन्तर का प्राणलेवा खालीपन उसे हीन भावना से भर देता है और परत दर परत पंकिल अंधेरे में दबी उसकी संज्ञा जीवित संदर्भों से जुड़ने के लिये भरपूर आवेग के साथ अकुला उठती है—

''ढहती हुई ईंटों और बढ़ते हुए लावे के नीचे दबा
मैं
चाहता हूं चिल्लाना—
मैं हूं ! मैं हूं !! मैं हूँ !!!''

मृत्यु उसकी नियति है लेकिन इस नियति से विद्रोह भी कवि के ज़िद्दी व्यक्तित्व की विशेषता है। बार-बार पछाड़ खाकर गिरते-घुमड़ते बादल का-सा है उसका व्यक्तित्व जो अपने में पूरा सागर समेटे उमड़ता है, पहाड़ की चोटियों से लगातार टकराता है। आठ पुलों के नगर में क्षुब्ध मानसिकता ढोते हुए एक पुल से दूसरे पुल तक चलते जाना और एक ऐसे पुल की तलाश जारी रखना जो उसके क्षोभ को शान्त कर दे, एक स्वाभाविक, सार्थक प्रतीक है—

''अपनी मृत्यु को
रोज़नामचे के एक पृष्ठ से दूसरे पृष्ठ तक ढोता हुआ मैं—
चलता जाता हूं उस पुल की तलाश में
जो मुझे जीवित संदर्भों के भूगोल से जोड़ दो।''

बात ऐसी भी नहीं कि उसकी रोमांटिक भावानाएं पूरी तरह मर गई हैं। संवेदनशील होने के कारण ऐसा हो पाना संभव भी नहीं है। टूटन और उबकाई से लबालब भरे परिवेश में कवि का मन ताज़ी हवा के लिए तरस-तरस उठता है—

"वर्षा में ढह रहे
किसी कच्चे घर की ईंटों सा
टूट-टूट जाता हूं
तुम आती हो
ढही-टूटी ईंटों को जतन से बटोर
फिर से एक व्यक्तित्व दे जाती हो।"

ऐसे क्षणों में कवि एक जीवन्त नदी की मांसल उर्मियों का स्पन्दन अपनी बांहों में भर लेना चाहता है लेकिन उसकी यातना उस वक्त अधिक सांघातिक हो उठती है जब यह अनुभूति बहुत शीघ्र बासी हो जाती है और कवि की बांहों में एक काई-जमी चट्टान बच रहती है। ऐसे क्षण, कवि का यह कहना उसकी अनबुझी प्यास का चिन्हक है—

"आज भी
यातना-कीलित मेरा प्रेत
तुम्हारे गुलाब-बनों में गुलाब सूंघने को भटक रहा है।"

उसके हिस्से की खुशबू कौन ले जाता है, उसके खुले आसमान को सीमित कौन कर देता है, अपने ही घर में उसे अजनबी बना देने वाले कौन-से तत्त्व हैं?—कवि ने इन सारे प्रश्नों पर गंभीर विचार किया है और निष्कर्ष प्राप्त किया है—ये तत्त्व बड़े शक्तिशाली हैं और इनसे जूझना अपने बस का रोग नहीं है। यहीं यह भी स्मरणीय है कि इस निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले उसने आक्रोश के क्षण भी जिए हैं। उसकी आत्म-स्वीकृति है "आक्रोश, हां आक्रोश भी मुझ में जागता है जब देखता हूँ कि हज़ारों लोगों का भाग्य उन लोगों की मुट्ठी में बंद है जिनके लिए मानव व्यक्ति की गरिमा खिलवाड़ की वस्तु है। ...जी में आता है इस सारी व्यवस्था को झटके से तोड़ दूं।" ऐसे क्षणों में एक वृद्ध ययाति भाव कवि से विद्रोह की मुद्रा में ढला चेहरा मांगता है। वास्तव में, एक अमिट ययाति भाव ही उसके चेहरे की पहचान

है। हां, मजबूरी और असमर्थता की रेखाएं भी इस चेहरे पर साफ-साफ देखी जा सकती हैं। संघर्ष की छटपटाहट, सारे परिवेश को पलट के रख देने का अबाध आग्रह और बार-बार की पराजय से उपजी हीन-भावना शशि के कवि-व्यक्तित्व की निर्मापक हैं। एक ओर वह कहता है—मेरी जेब में पड़ी कुतुबनुमा / हमेशा उन्हीं अन्धेरों की ओर संकेत करती है / जहां एक ध्वस्त नार घायल जानवर-सा चीखता है—तो दूसरी ओर वह आशा का पल्ला पकड़े पुकारता है—मुझ से क्यों किसी ने (किस ने ?) कहा था / कि इन अंधेरों में भी / अनार के फूलों-सा / चमक सकता है कोई अर्थ !''

शशिशेखर की कविता के ये विविध पहलू उसके व्यक्तित्व के प्रामाणिक पहलू हैं। यह विविधता साक्षी है कि उसकी अनुभूति तथा अभिव्यक्ति नितांत मौलिक है।

जम्मू में हिन्दी कहानी की संरचनात्मक पड़ताल —'अधूरी कहानी का हीरो' के माध्यम से

—वेद कुमारी घई

जम्मू के चार युवा ह ताक्षरों—रमेश मेहता, निर्मल विनोद, अनिल सहगल और नीलम खोसला – का एक कहानी संग्रह 'अधूरी कहानी का हीरो' शीर्षक से १६७८ में निकला है। हिन्दी गद्य का नवीनतम रूप इस नयी पीढ़ी की नयी रचनाओं में किस प्रकार उभर रहा है यह देखने का प्रयास इस पुस्तक के माध्यम से इस लेख में किया गया है।

भाषा के माध्यम से ही साहित्यकार अपने भावों को अभिव्यक्त करता है अतः किसी साहित्य के सम्यक् मूल्यांकन के लिए उस का माध्यम बनी भाषा का मूल्यांकन भी आवश्यक होता है। कविता हो या कहानी, निबन्ध हो या नाटक प्रत्येक-साहित्यिक रचना की भाषा सामान्य भाषा से कुछ अलग होती है। जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रंगों को अपने ढंग से प्रयुक्त करता हुआ एक कलात्मक सृष्टि कर अपने भावों और अनुभूतियों को प्रकट करता है उसी प्रकार साहित्यकार शब्दों और वाक्यों की संघटना द्वारा अपने ढंग से भावाभिव्यक्ति करता है। एक निश्चित सीमा तक साहित्यिक भाषा रचनाकार के व्यक्तित्व के अनुकूल रूप ग्रहण करती है। शब्द समूह, वाक्यगठन, प्रतीक योजना आदि की विशेषताएं रचनाकार की अनुभूतियों, भावों और कल्पना शक्ति पर निर्भर होती हैं। इन अनुभूतियों और भावों की पहचान तब तक पूर्णरूपेण नहीं हो सकती जब तक अभिव्यक्ति के माध्यम भाषा का विश्लेषण न किया जाए। प्रसिद्ध आधुनिक भाषावैज्ञानिक रोमन याकोब्सन के शब्दों में "भाषा के काव्यफलन के प्रति उपेक्षाभाव रखने

वाले भाषावैज्ञानिक तथा भाषावैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषा-वैज्ञानिक प्रणालियों से अपरिचित साहित्यशास्त्री दोनों ही अपने समय से बहुत पीछे हैं ।"

सात कहानियों के इस संग्रह में पहली दो कहानियां—'अधूरी कहानी का हीरो' और 'एक मादा प्रतिशोध'—हमारी जीवन-पद्धति में उपस्थित हुए खतरों का अंकन करती हैं। 'अधूरी कहानी का हीरो' बाजार की चहल पहल में "हत्या, दंगा और चाकू" को भूलना चाहता है परन्तु अन्धेरा होते ही वातावरण की विकृतियां उसे भयतीत कर देती हैं। वह उन्मुक्त वातावरण में शान्ति से जीना चाहता हुआ भी इस निष्कर्ष पर पहुँचता है "खुले चाकू की संस्कृति हमें जिन्दा नहीं रहने देगी"। कहानी का आरम्भ नायिका के आशंकागर्भित वाक्य "देखो रात को देर मत करना" से होता है। धीरे-धीरे भय और संत्रास बढ़ता जाता है। नायक की भावभूमि का चित्रण छोटे छोटे वाक्यों से किया गया है जो बाह्य और अन्तर में एक समान्तरता उपस्थित करते हैं। पृष्ठ ४ पर 'काफी हाउस का शोर धीमा पड़ता जा रहा है। बाजार में एक-एक कर दुकानें बन्द होने लगी हैं। मुझे अकेलेपन का अहसास दबोचने लगता है। मीनू से कहे गये मेरे अपने ही शब्दों का खोखलापन मेरा उपहास करने लगता है" वर्तमान कालिक क्रिया प्रयोग .. लगी हैं ... लगता है लगता है एक स्थिति से तुरन्त उत्पन्न दूसरी स्थिति की अनुभूति कराने में सहायक हुए हैं। 'अकेलेपन का अहसास' और 'शब्दों का खोखलापन' इन दो वाक्यांशों में संरचनात्मक समानता है जो इकट्ठा प्रभाव उत्पन्न करती है। 'अहसास' और खोखलापन' दोनों भाववाचक संज्ञाएं हैं जो दबोचना और उपहास करना क्रियाओं के सहयोग से जीवन्त परिलक्षित होती हैं। मानवीकरण का प्रयोग भय की सृष्टि के लिए कुछ अन्य वाक्यों में इस प्रकार हुआ है—१. स्ट्रीटलाइट का प्रकाश भी अभी से **ऊंघने लगा है**। २. एक कम्पकम्पी मेरे सर से होती हुई **पांव तक** मुझे पसीने से **नहला देती है** ।

३. घर की चारों दीवारें मुझे **घूरती हुई** प्रतीत होती हैं। ध्वनि-बोधक संज्ञाओं **'स्वर'**, **'धमकी'**, **'बाय'** के साथ उछालना क्रिया का प्रयोग सामान्य से विपथन के रूप में हुआ है। लेखक ने एक वाक्य में कई समानान्तर विशेषण विशेष्यों को ला कर प्रभाव को सघन किया है। जैसे पृ० ६ पर

एक बेमुरा स्वर, दौड़ते हुए कदमों की पदचाप, लाल लाल आंखों की तेजी, खुले हुए चाकू की चमक—सब मुझे अपना पीछा सा करते हुए लगते हैं।'

रमेश मेहता की शैली में क्रियाओं के कुछ प्रयोग सामान्य से हट कर हैं। महसूस करना, तलाश करना—इन बहुशब्दीय प्रयोगों के स्थान पर महसूसना, तलाशना का प्रयोग हुआ है—मैं **महसूसने** लगता हूँ कि मैं अभेद्य हूँ शहर की दीवारों पर लगे फिल्मी पोस्टरों में से झांकती लाशों के चेहरों में से मैं अपने लिए एक चेहरा **तलाशने** लगता हूं (पृ० ५) **महसूसने** और **तलाशने** में एक संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हुई है जो वक्ता के अन्तर्मन की तीव्र मानसिक प्रक्रिया से जुड़ी है। तलाश करने और महसूस करने में वह तीव्रता नहीं रहती और भाव की इकाई खण्डित हो जाती।

'एक मादा प्रतिशोध' कहानी पारिवारिक जीवन के विघटन को अभिव्यक्त करती है जो पाश्चात्य जीवन के अन्धानुकरण से उत्पन्न हो रहा है। शालू ने ढाल के रूप में मनीश से हुए विवाह को स्वीकारा है तथा प्रदीप और अन्य पुरुषों से सम्बन्ध पूर्ववत् बनाए रखा है। मनीश बेटी मुन्नी के विषय में चिन्तित हो पत्नी के आगे प्रश्न उपस्थित करता है। पति-पत्नी के मध्य अलगाव को द्योतित करने में बादल के टुकड़े का प्रतीक बखूबी प्रयुक्त हुआ है :—

'बादल का एक टुकड़ा हम दोनों के बीच तैर आया है।' (पृ. ९)

'बादलों के पार झांकने की एक बेमकसद, बेसूद कोशिश करता हूं।' (पृ० ९)

'कंजी आंखों से बादलों के पार झांकने का प्रयत्न करता हूं और यह जान कर अवसाद से भर जाता हूँ कि शालू बादल के उस टुकड़े का ढाल के रूप में प्रयोग करते हुए मेरे प्रश्न से बच निकली है।' (पृ० १०)

'बादल के टुकड़े' के प्रतीक से केवल अलगाव के अर्थ की अभिव्यक्ति ही नहीं होती अपितु भावनाओं का उद्बोधन भी होता है किसी प्रबल प्रवात से बादल के उड़ जाने की ओर संकेत भी मिलता है।

दोनों कहानियों में तत्सम शब्दों का प्रयोग पर्याप्त है—असम्पृक्त अनुत्तरित, नितान्त, अचेतन, व्यग्रता आदि। पृ० ९ पर बुद्धिमानी प्रयोग अखरता है। दैनिक प्रयोग में आने वाली अंग्रेजी शब्दावली सहज प्रयुक्त हुई है, प्लीज, काफी हाउस, स्ट्रीट-लाइट, टोन, फ्लाइंग स्कवॉड, जीप, काल-बैल, लैम्प पोस्ट, प्लान, काटेज, पार्टनर, वीकर सैक्स आदि।

निर्मल विनोद की कहानियों—'सहज असहज' और 'खिड़की से झांकता दर्द'—में विषमता, भ्रष्टाचार, रूढ़िग्रस्तता के प्रति विद्रोह है। पुरातन शैली से हट कर तत्सम शब्दों के साथ आंचलिक शब्दावली भी प्रयुक्त हुई है। दादी मां की भाषा में अक्किल, समां, सस्तभाई, जुग, राशनकाट, जिआदा शब्दों पर डोगरी की छाप है। अंग्रेजी का प्रयोग कहीं-कहीं इतना अधिक है कि पूरे वाक्य में एक सहायक क्रिया या परसर्ग ही हिन्दी के हैं जैसे—'आफीशियल मैटर्ज कण्डक्ट करना। वर्किंग डेज में कालिज की टाइमिंग। इन्फीरियारिटी कॉम्पलैक्स का शिकार हो गये स्कूल ब्वॉय की तरह'। निर्मल विनोद प्रायः निक्षिप्त संरचना का प्रयोग करते हैं जिस में वाक्यांश की व्याख्या के रूप में वाक्य के भीतर वाक्य रखे गये हैं, जैसे पृ० २६ पर "पिछले चार वर्षों—इस नामुराद बीमारी का विक्टिम बनने के बाद जब से इस कमरे का कैदी बना हूं—की इस अवधि में ...." 'इन से कुछ ले जाना .... खिलौने ले जाना ..... वन्दिता के बच्चे के लिए' (पृ० २९)

'एक लम्बे समय से—वर्किंग डेज में कालिज की टाइमिंग या फिर हंगामों वाले दिनों को छोड़ कर (—) शेष सूने दिनों की भांति मेरी रातें भी सूनी हैं।' (पृ० २७)

'कभी शुगल के रूप में आरम्भ होने वाली आदत—जो अनेक पूर्वाग्रहों के कारण पहले अटपटी सी लगती थी अब, स्वभाव का एक अंग बन चुकी है।' (पृ० २४)

यह निक्षिप्त संरचना अंग्रेजी गद्य शैली के प्रभाव से ग्रस्त दिखाई देती है जहां प्रायः इस का प्रयोग किसी शब्द या पदबन्ध के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए उसे सीमित या विस्तृत करने के लिए किया जाता है। पर लेखक के अन्तर्गत की चिन्तन प्रक्रिया की अभिव्यक्ति भी इस से होती है। लेखक अनुभव करने लगता है कि उस की संकल्पना को पूर्ण रूपेण प्रकट करने की क्षमता शब्दों में नहीं है, बात कह कर अनकही सी लगती है; अतः वह उसे फिर कहने का प्रयास करता है। पृ० २९ पर उक्ति है—

'कहीं कुछ टूट गया है.... टूट गया है कुछ अनछुआ .... टुकड़े टुकड़े हो गया है ...कहीं कुछ गलत हुआ है। बलण्डर ...बलण्डर' यहां एक ही भाव को बार-बार कहने का प्रयास भाव की गहनता का द्योतक है। कभी-कभी लेखक एक बात को दो तीन भिन्नस्रोतीय शब्दावली के सहारे

अभिव्यक्त करता है। पृ० २६ पर 'वन्दिता को मेरी बेबसी से हमदर्दी है... कायरता से सहानुभूति है, मेरे स्टैंण्ड न ले पाने की कमजोरी से...' बेबसी, कायरता, स्टैंण्ड न ले पाना तीनों उच्चार एक ही भाव को प्रकट कर रहे हैं। पृ० २२ पर 'मैं खोखला हूं .. मेरा बड़प्पन खोखला है ... मेरा असहाय, बेबस यौवन दीमक लगा है' में भी इसी प्रकार का प्रयोग है। बिन्दुओं का प्रयोग भी इन दोनों कहानियों में खूब हुआ है जिन से लेखक अनकही को पाठकों की कल्पना पर छोड़ देता है। कभी कभी इन बिन्दुओं का प्रयोग पात्र के चिन्तन की धीमी प्रक्रिया को व्यक्त करने के लिए किया गया है जैसे पृ० २८ पर... वन्दिता के ...बच्चे .. के लिए.... वन्दिता और पा... ल के... बच्चे ऽऽ ।

कई विशेषणों तथा क्रियाओं के प्रयोग सामान्य से हट कर किये गये हैं जो अर्थ की दृष्टि से भाषा में नयापन लाते दिखाई देते हैं। 'ठण्डा सलेटी दूधिया प्रकाश' (पृ० २६) 'ठोस भुतहे एकान्त को पिघला पाने की सामर्थ्य' (पृ० २८) 'चिंघाड़ती चली आती जीप' (पृ० २६) 'मेरी सोच को जैसे ब्रेक लग गये हैं' (पृ० ३०)

फैलते हुए और सिमटते हुए प्रकाश के दो बिम्ब सुन्दर बन पाए हैं "कमरे में रोशनी का हल्का सा अहसास अपने डैने फैलाकर मंडलाने लगा है" पूरी कहानी में निहित बेबसी का भाव इस बिम्ब से और गहरा होता है जहां रोशनी भी नायक को दबोचना चाहती है। सिमटते प्रकाश की तुलना 'इन्फीरियारिटी काम्पलैक्स का शिकार हो गये स्कूल बॉय से की गई है' (पृ० २६)। कैंची सी किच किच चलती जुबान (पृ० २२) में पुराने उपमान का प्रयोग है परन्तु अनुप्रास का प्रभाव अपेक्षित वितृष्णा की सृष्टि कर रहा है। इसी पृष्ठ पर 'स्साली'... शब्द का प्रयोग ध्वनीय दृष्टि से साली से कहीं अधिक सबल है।

अनिल सहगल की कहानी 'कोहरे में से' की भाषा में भी निक्षिप्त संरचना की प्रधानता है। वह इस के लिए कभी डैश का प्रयोग करते हैं कभी ब्रैकेट का। भाषा में शुद्ध तत्सम शब्दों की तुलना में फारसी शब्दावली का आधिक्य है। सही सलामत, अहसास, शौख़ माहौल, बहर हाल, अदद आदि शब्द उर्दू का और हावी, हिलस्टेशन, फाइनल करना, इंट्रोड्यूस कराना, पालिटिक्स जाइन करना, रस्टीकेट आदि शब्द अंग्रेजी का प्रभाव द्योतित करते हैं।

सामाजिक विकृति के प्रतीक के रूप में कोहरा सारी कहानी में छाया है जिस के पार शान्त वृक्षों को देखना अच्छा लगता है पर यदि कोहरा जम जाता है तो ... टनल के एक हिस्से के गिर जाने से बारह मज़दूरों की मौत इस प्रतीक को स्पष्ट करती है—'लगने लगा है कि घने कोहरे में से सही सलामत बाहर निकल पाना सभी के लिए तो संभव नहीं है''।

नीलम खोसला की कहानियां अलगाव और बोधिसत्त्व नर नारी के बनते बिगड़ते सम्बन्धों पर आधारित हैं। अलगाव में पत्नी के अविश्वास से उत्पन्न स्थिति की वितृष्णात्मकता की अभिव्यक्ति निम्न प्रतीकों से बखूबी हुई है—(क) 'दिमाग में हजारों मक्खियां भिनभिनाने लगी हैं' (पृ० ४७) (ख) उसके मरने का शेष वृतान्त भी बदबूदार धुएं के साथ मेरे दिमाग में घुसने लगता है। (पृ० ४८) (ग)यह रोमांच नहीं है, हड्डियों के टकरा कर टूटने की चरमराहट सी है' (पृ० ५०) दोनों कहानियों की भाषा में सहज सरलता है। कहीं-कहीं शब्दीय समानन्तरता से अर्थ को सबल बनाने का प्रयास है जैसे पृ० ५६ पर 'चेचक के **दागों** से भरे चेहरे वाले व्यक्ति का हृदय औरों की अपेक्षा अधिक **बेदाग** हो क्या यह सम्भव नहीं है ?'

'**विशाल** मेरे ख्याल में हृदय की **विशालता** अन्य समस्त आकर्षणों से बढ़ कर है।' विरोधमूलक समानन्तरता का एक अन्य उदाहरण है 'पंखा जितना तेज होता जा रहा है, मेरा मस्तिष्क उतना ही स्थिर'

शब्दावली में आम प्रयोग में आने वाले अंग्रेजी के शब्द हैं। वाक्य संरचना में बिन्दुओं का प्रयोग प्राय: व्याख्या के लिए नहीं अपितु चिन्तन की धीमी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है।

जम्मू की नयी पीढ़ी के इन चार लेखकों की यह नयी कहानियां परम्परानुमोदित भाषा-शैली से कुछ भिन्न भाषा शैली प्रस्तुत करती है। शब्दावली अरबी-फारसी, अंग्रेज़ी से प्रभावित हो रही है। प्रतीक नवीन परिवेश से लिए जा रहे हैं। सामाजिक जटिलताओं और विसंगतियों से जूझते लेखक का असन्तोष और अवसाद वाक्य संरचना में भी प्रतिबिम्बित हो रहा है।

———

कहानीकार डॉ० अयूब 'प्रेमी'

—डॉ० सोमनाथ कौल

डॉ० अयूब 'प्रेमी' संक्रमण-काल की पीढ़ी के कहानीकार हैं। युगीन तथा पारिवारिक परिस्थितियों के अनुसार आप के जीवन की शुरूआत आदर्श, मोह तथा ऐसी ही दूसरी स्थितियों से हुई किन्तु कालान्तर में उनकी परिणति अनादर्श, मोहभंग आदि में देखी जा सकती है। चेतना के जागृत होने पर लेखक ने अन्य साहित्यकारों की तरह अपने देश को तथा अपने चारों ओर के परिवेश को सच्ची तथा यथार्थपरक दृष्टि से देखने की कोशिश की है। आपने अपने स्वतंत्र देश में प्रायः प्रत्येक बात का अनुभव किया है—महंगाई, भुखमरी, रिश्वत, काला धन, भाई-भतीजावाद, वर्ग संघर्ष, मध्य वर्ग की बिगड़ती स्थिति, मूल्यों का संकट तथा इनका अवमूल्यन, बनते, टूटते-बिगड़ते रिश्ते आदि। अपने अध्ययन काल में प्रेमी ने प्रेमचन्द की आदर्शोन्मुख कहानियों तथा प्रसाद की कल्पनिक तथा भावमूलक रचनाओं का अध्ययन भली-भांति किया था। वे जैनेन्द्र के मनोविज्ञान तथा जीवन-दर्शन, 'अज्ञेय' के शुद्ध मनोविज्ञान, यशपाल तथा रांगेय राघव की प्रगतिशील चेतना से पहले ही साक्षात्कार कर चुके थे। कहानियां लिखने से पूर्व उन्होंने स्वातंत्र्योत्तर नई चेतना के प्रारम्भिक कलाकारों का भी अध्ययन किया था। वस्तु: उपरोक्त पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में अयूब प्रेमी' ने हिन्दी कहानी-जगत में अपने कदम रखे हैं।

'प्रेमी' जी की कहानियों का संदर्भ प्रमुखतः मध्यवर्ग और कहीं-कहीं निम्न-मध्यवर्ग है। देश की आज़ादी के बाद मध्यवर्ग को ही एक ज़बर्दस्त संस्कारगत धक्का पहुंचा है। बदलती परिस्थितियों में यह वर्ग उच्च तथा निम्नवर्गों के आपसी संघर्ष में बेरहमी से पिसता रहा है। मध्यवर्ग ने इस सारे

परिवर्तन के अनुभव को तीव्रता से महसूस किया। इसी ने अपने को विस्थापित असहाय और विद्रोही पाया और इसी ने मूल्यों की ज़हरीली तासीर को अनुभव किया। 'प्रेमी' जी प्रायः मध्यवर्ग से ही सम्बन्धित हैं, अतः इस समाज की क्षयी तथा शून्य आवाज़ को आप ने ईमानदारी तथा प्रामाणिकता के निकष पर कस कर हमारे सामने प्रस्तुत किया है। यह आवाज़ 'दुहरी टूटन', 'एक नाम बुझी मुस्कान', 'कहो, कैसी तबीयत है' तथा ऐसी ही दूसरी रचनाओं में सहज ही पाई जा सकती है।

लेखक की कहानी वस्तुतः टूटते-जुड़ते सम्बन्धों की कहानी है। उन्होंने इन सम्बन्धों के माध्यम से भारतीय परिवेश में प्रायः नगर के मध्यवर्ग तथा निम्न-मध्यवर्ग के जीवन-दर्शन का चित्रण किया है। इस जीवन-दर्शन में कहीं सम्बन्धों की याद को तीव्र किया गया है कहीं सम्बन्ध न रह जाने की स्वीकृति है और कहीं नये सम्बन्धों की तलाश प्रमुख है। 'दुहरी टूटन' में लेखक ने व्यतीत सम्बन्धों की याद को अंकित किया है और साथ ही कहानी में सम्बन्धों की टूटन से उपजी स्थिति का स्वीकार भी है। 'दुहरी टूटन' कहानी के भावुक कथावाचक (कवि) ने प्रेम की दुनिया तो बसाई किन्तु अन्त में उसको निराशा, व्यथा एवं टूटन के सिवा और कुछ नहीं मिला। विज्ञान के प्रभाव के कारण आज के व्यक्ति ने ज़िन्दगी जीने के लिए तथा सम्बन्धों की स्थापना के लिये बौद्धिक दृष्टिकोण को अपनाया है। परिणामस्वरूप उसका भावना-स्रोत विस्मृति के गर्त में कहीं खो चला है। यही कारण है कि प्रस्तुत कहानी की नायिका जिस स्वाभाविक ढंग से कथावाचक (कवि) से प्रणय-सम्बन्ध स्थापित करती है, उसी अधिकार से उससे सम्बन्ध-विच्छेद करने में भी नहीं हिचकिचाती। सम्बन्ध बनाने-बिगाड़ने के संदर्भ में आज का व्यक्ति गिरगिट की तरह निपुण है। आज कल चीज़ें बहुत तेज़ी के साथ बदल जाती हैं, यहां तक कि भावनाएं भी दहल जाती हैं। 'दुहरी टूटन' इस कथा को अक्षरशः प्रमाणित करती है। लेखक की मान्यता है कि सम्बन्धों के मामले में इस छलकपट से काम नहीं लिया जाना चाहिये यद्यपि इस सिलसिले में वे खुल कर बात नहीं करते हैं।

डॉ० 'प्रेमी' ने कई कहानियों में व्यक्ति के सम्बन्धों को अपने सही तथा वास्तविक रूप में प्रस्तुत करने के भी प्रयत्न किये हैं। उनकी एक बहुचर्चित कहानी 'कहो, कैसी तबीयत है ?' एक ऐसी कहानी है जिस में

लेखक ने यथार्थ पर अयथार्थ की परतों को छीलने-कुरेदने की कोशिश में वस्तु-स्थिति को इस सीमा तक नंगा किया है कि उस पर झीना-हल्का पर्दा डालने की ज़रूरत तक भी महसूस नहीं की है। कहानी के माध्यम से मनुष्य की असली प्रकृति को पाठकों के सामने प्रस्ततु किया गया है। सभ्यता तथा वैज्ञानिक संस्कृति का मुखौटा पहने आज के व्यक्ति ने सचेतनावस्था में अपनी प्रकृति को कहीं दफना दिया है। परिणामस्वरूप आजकल हम जिस मानव से मिल रहे हैं, उसकी थाह पाना सरल नहीं है। प्रेमी' जी ने मनुष्य की असली प्रकृति को प्र तुत करने की चुनौती को सहर्ष स्वीकारा है, उससे मुंह नहीं मोड़ा है। लेखक ने प्रस्तुत कहानी में अपने ही लेखक-वर्ग को शराब की अवस्था में उनके घिनौने रूप को इस सीमा तक नंगा कर दिया है कि उस नंगेपन पर एक हल्का आवरण डालने की आवश्यकता तक भी महसूस नहीं की है। यह लेखक की ईमानदारी है कि आपने कलाकार वर्ग को इस तरह हमारे सामने प्रस्तुत किया है, चाहे उसमें स्वयं उनकी ज़ात भी क्यों न सम्मिलित हो। कहानी के अन्तिम वाक्य "भाभी सचमुच उस स य दो चेहरे वाली नागिन की तरह लगी थीं मुझे,"[1] से यही ध्वनि निकलती है कि लेखक बनावटी तथा खोखले सम्बन्धों का पक्षधर नहीं है। 'प्रेमी' जी इस प्रकार जिस जीवन दर्शन की बात करते हैं, वह उनके सृजन की उपज है। उनकी मान्यताओं तथा मूल्यों में एकरसता नहीं रही है, बल्कि कालान्तर में उनमें परिवर्तन आये हैं। लेखक की अन्य रचनाओं जैसे 'एक नाम बुझी मुस्कान', 'और दरवाज़ा बन्द हो गया', 'ऑनलीक के उस पार,' 'सलीब पर कटे-कटे साये' आदि में स्त्री-पुरुष के तनावपूर्ण सम्बन्धों को प्रदर्शित किया या है। लेखक ने ऐसा कोई संकेत नहीं दिया है जिस से इन तनावपूर्ण सम्बन्धों में सामंजस्य स्थापित होने की संभावना दृष्टिगोचर हो सके।

डॉ० 'प्रेमी' ने अपनी एक-आध कहानी में निम्नमध्य वर्ग की ट्रैजेडी को भी दिखाया है। 'राजमार्ग के यात्री' में आनन्द नामक एक नवयुवक निम्न-मध्यवर्गीय संस्कारों में पला है। अपनी सम्पूर्ण विवशताओं को निगल-कर वह यार-बिरादरी, सफेद-पोशी तथा दिखावे का जीवन व्यतीत कर रहा है। फलस्वरूप कभी वह अपने दोस्त की आसमानी कार में नज़र आ रहा है तो कभी किसी दूसरी गाड़ी में। एक अमीर घराने की सुजाता नामक लड़की

१. कहो कैसी तबीअत है—राजमार्ग के यात्री—पृ० ७८,

उससे प्रेम करती है। उन्होंने कई मुलाकातों में कितने ही सुन्दर सपने संजोये हैं। संयोग से एक दिन सुजाता उसे दिल्ली के राजमार्ग में अपनी कार लिये हुए मिलती है। वस्तुतः आनन्द उस समय मां का आखिरी ज़ेवर बेचकर अपने बूढ़े बीमार पिता के लिये दवा लेने जा रहा था। विवश होकर उस समय उसे सुजाता के साथ एक बड़े होटल में जाना पड़ा और मां के ज़ेवर से प्राप्त धन जल-पान पर व्यय करना पड़ा। सुजाता से निपट चुकने के बाद जब आनन्द सचेत हुआ तो उसे लगा कि कार के पहिये उसे कुचले दे रहे हैं। "वह सोचने लगा कि वह खुद एक सड़क है—राजमार्ग, जिस पर से ये पहिये गुज़रने के बाद न जाने कितने पहिये गुज़र जायेंगे।"[२] प्रतीकार्थ में प्रस्तुत कहानी महानगर के भटके तथा थके-हारे युवक की कहानी बन जाती है। राजमार्ग के यात्री के लिये तमाम सड़क है, जिस पर वह जा सकता है मगर ये सड़कें वास्तव में कहीं नहीं ले जातीं। शोर-शराबे और भीड़ से पूर्ण दिल्ली जैसे महानगर में आनन्द निहत्था है। सुजाता का आलिंगन-पाश उसके लिये मोह है और जब उसका मोहभंग हो जाता है 'तो उसके गले में लटकाई गई स्याह तख्ती पर ये शब्द चमक उठते हैं—"एक ग़रीब क्लर्क का बेटा। एक अभागा फुटपाथ का यात्री जिसको हक नहीं था राजमार्ग पर चलने का। लेकिन उसने ज़िद की और कार के पहिये के नीचे कुचल गया और मां का आखिरी ज़ेवर बेचकर भी बीमार बूढ़े बाप की दवा न खरीद सका।"[3]

लेखक की कहानियों को देखकर उनकी प्रमुख प्रवृत्तियों तथा शिल्प-सौन्दर्य का पता चल जाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि उनकी रचनायें परंपरागत वादों के आग्रह से मुक्त हैं। वे जिस दर्शन या मूल्य का प्रतिपादन करते हैं वह उनके सृजन की उपज है। एक महर्षि की तरह वे दर्शन या वाद का प्रतिपादन नहीं करते हैं। उनकी कई रचनाओं में (जैसे, 'एक बार फिर') अस्तित्ववाद जैसी समसामयिक विचारधारा के प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। 'एक नाम बुझी मुस्कान' की मुख्य पात्रा (पत्नी) पति से कहती है : 'भविष्य की ओर लपके बगैर विश्वास की धूप कैसे सेंकी जाती है?"[४] एक अन्य कहानी में उन्होंने स्त्री-पुरुष की मित्रता को मान्यता दिलाना चाही है।

---

२. राजमार्ग के यात्री—पृ० ४५

३. राजमार्ग के यात्री—पृ० ४४

४. एक नाम बुझी मुस्कान—राजमार्ग के यात्री पृ० ४७

'प्रेमी' जी की कहानी का रचनाफलक विस्तृत है। उनकी कहानियों का विश्लेषण काव्य-शास्त्रज्ञों के सीमित कठघरे में नहीं हो सकता। उनकी कहानी में साहित्य की अन्य विधाओं (जैसे गद्य, काव्य, निबन्ध आदि) को भी आत्मसात् किया गया है और इन साहित्य-रूपों की सीमाएं एक-दूसरे के भीतर दूर तक चली गई हैं। इस संदर्भ में दूसरी टूटन' को देखा जा सकता है। वे कहानी की स्थिति के प्रति तटस्थ दिखाई देते हैं। वे भावुक कम किन्तु 'सेन्सिटिव' अधिक हैं। वे भोगे हुए तथा प्रामाणिक यथार्थ को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। दोराहा या चौराहा', 'राजमार्ग के यात्री जैसे प्रतीक आज के संश्लिष्ट जीवन के प्रतीक हैं।

लेखक ने शिल्प के प्रति नवीन दृष्टि को अपनाया है। उनकी कहानी में जो भी तत्त्व आये हैं, उनसे एकान्तिक प्रभाव की सृष्टि होती है। कभी-कभी उनका संवेदनशील हृदय कहानी में बोल भी सकता है, जैसे 'दूसरी टूटन' में। 'प्रेमी' की कहानियों में क़थानक कम किन्तु कथ्य अधिक होता है। कहीं कहीं लेखक ने औत्सुक्य तत्त्व से भी काम लिया है, मगर उनकी उत्तर-कालीन कहानियों का कथ्य सपाट है। उनकी कहानियां जिस बिन्दु से शुरू हो जाती हैं, प्राय: उसी बिन्दु पर समाप्त भी हो जाती हैं। उनकी कहानियों का आरम्भ, मन: स्थिति, बिम्ब, संकेत आदि के वर्णन से होता है।

'प्रेमी' जी के पात्र यथार्थ सृष्टि की उपज हैं। इनसे आपका ज़िन्दगी की राह में कहीं किसी मोड़ पर अचानक सामना हो जायेगा यह निश्चित है। ये पात्र जीवन से सम्बन्धित है तथा सामान्य भाषा में बात करते हैं। कहानी के प्रभाव को गहराने के लिये लेखक ने कहीं-कहीं सांकेतिक वातावरण, प्रकृति-चित्रण तथा 'फ्लैश बैक' से भी काम लिया है। 'प्रेमी' जी की भाषा का प्रवाह स्वाभाविक है। वे सच्चाई तथा असलियत की भाषा में बोलते हैं। अपनी संवेदना को प्रेषण शक्ति देने के लिये उन्होंने शब्द-प्रतीकों को नये अर्थ देने की कोशिश की है।

डॉ० 'प्रेमी' के साहित्य की बड़ी सीमा यह है कि वे आधुनिक तो हैं किन्तु समसामयिक नहीं। उनकी कहानियां प्राय: स्त्री-पुरुष के बीच व्याप्त पति अथवा प्रेमी-मिप्रेका के सम्बन्धों तक ही सीमित रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस विशिष्ट सम्बन्ध के बाद वे जीवन को देखना ही नहीं चाहते। पति-पत्नी के सम्बन्ध निस्संदेह जीवन के मूल में हैं, किन्तु संसार के प्रश्नों,

अप्रश्नों, समस्याओं आदि का समापन यहीं पर आकर नहीं होता। उनकी कुछ कहानियां नाटकीयता के अनावश्यक मोह में फंसी हैं जैसे 'ऑनलीक के उस प्रार'। 'राजमार्ग के यात्री' का अन्तिम अंश कहानी को इतना बेपर्दा कर देता है कि उसका मर्म खुलकर सामने आ जाता है। यहां लेखक पाठक की चेतना के लिये कुछ भी शेष नहीं रहने देते। उन्होंने बहुत सी कहानियों को व्यष्टि-सत्य तक ही सीमित रखा है। कालान्तर में लेखक के दृष्टिकोण में परिवर्तन आने लगा है। अब आपने 'लड़ाई', 'नये मूल्य की यातना' आदि में इस बात का प्रमाण दिया है कि आप समष्टि के हित की ओर देखने लगे हैं।

———

जम्मू–कश्मीर में हिन्दी नाटक साहित्य और लोक मंच

— ज्योतीश्वर पथिक

अमरीकी साहित्य की सब से गम्भीर समस्या अपनी अलग ऐंटिटी की तलाश रही है। मध्यकालीन लेखकों एवं कवियों का ज़्यादातर ध्यान इसी की ओर केंद्रित रहा है। अठारहवीं शताब्दी में स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अमरीकी साहित्यकारों का अधिकतर प्रयत्न इस ओर केंद्रित रहा। वे लोग भाषा एवं साहित्य के मामले में किसी की डामीनेशन पसंद न करते थे अतः इस होड़ में उन्होंने साहित्य को अधिक से अधिक मौलिक एवं अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बनाने का प्रयत्न किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ-साथ जम्मू-कश्मीर में भी अपनी साहित्यिक ऐंटिटी की तलाश शुरू हुई। लोक गीतों, लोक कथाओं, लोक संगीत को भारी प्रोत्साहन मिला। युग प्रवाह में बहते हुए जम्मू में डोगरी संस्था, एवं कश्मीर में कश्मीर कल्चरल फ्रंट ने जन सम्पर्क के लिये अधिक से अधिक साहित्य जुटाया। जम्मू में स्वर्गीय परमानंद अलमस्त एवं कश्मीर में महजूर ने साम्प्रदायिकता का सामना करने के लिये अपनी कविता को अभिव्यक्ति का माध्यम की ओर भागते हैं। इस अंधेरे में रोशनी की अगर मद्धम सी किरण दिखाई दी तो नरेन्द्र खजूरिया के नाटक—रास्ता कांटे और हाथ में। इस नाटक की पृष्ठभूमि तहसील बसोहली का एक अलग-थलग गांव है। मगर विषय में प्रचार एवं उपदेश की पुट अधिक होने के कारण नाटक में पकड़ नहीं आ सकी। मुझे यहां पर 'बंगला देश' की थीम पर स्वर्गीय

डॉ० श्याम परमार द्वारा लिखा गया कठपुतली नाटक याद आ जाता है। उसमें लोगों की भावनाओं को व्यक्त किया गया था एवं आलेख अच्छी तरह निभाया गया था। विषय प्रचारात्मक होते हुए भी अर्थपूर्ण था।

मोती लाल क्यमू ने तीन असंगत एकांकी प्रस्तुत करके एब्सर्ड ड्रामा में वृद्धि करने का जो प्रयास किया है वह कुछ जम नहीं पाया। इसकी पहली वजह यह है कि इस अटपटेपन से वे क्या संदेश देना चाहते हैं यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाया। दूसरे नाटक का आधार मराठी का 'तमाशा' है जिससे यहां का आम आदमी परिचित नहीं। राजा का बार-बार मरना पाठक की समझ में नहीं आता अतः यह नाटक 'ऑब्स्क्योरिटी' का शिकार हो कर रह जाता है। रंगीला एंव रंगीली का दिया हुआ इंटरल्यूड भोंडा सा प्रतीत होता है एवं संवाद एवं कवितांश अटपटे से लगते हैं। इस सब के बावजूद भी नाटक प्रभाव अवश्य छोड़ता है।

अमरीकी साहित्य की तरह जम्मू-कश्मीर में लोक मंच को भी ऐंटिटी की तलाश रही है। बंगला साहित्य की जात्तरा, मराठी साहित्य का तमाशा जैसा सशक्त माध्यम न ही जम्मू-में मिल सका और न ही कश्मीर में। अतः नाटक में आज तक कृत्रिमता एवं कलिष्टता पाई जाती है। नाटक में बनावट है और इसके पात्र अपने घर में अजनबी से बन कर रह जाते हैं। यह प्रश्न इसलिये भी उठता है कि हिन्दी मंच पर यहां जो नाटक प्रस्तुत किये जाते रहे या अब भी किये जाते हैं उनका वातावरण बिलकुल अलग थलग है। यही बात है कि "आषाढ़ का एक दिन" (लेखक : मोहन राकेश) सी० परवाना के कुशल निर्देशन के बावजूद भी ठप हो गया। एक अन्य नाटक 'रजनी गंधा' खेला तो बहुत बार गया परन्तु आम दर्शकों के मन पर अपना प्रभाव अंकित न कर सका। यह इसलिये है कि हम अपनी मौलिकता (Originality) को खोकर दूसरों की ओर भागते हैं।

जम्मू-कश्मीर ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत वर्ष में हिन्दी नाटक की कठिनाई यह रही है कि नाटककार मूलतः रेडियो की पैदावार होते हैं। चरणजीत से लेकर सुतीक्ष्ण कुमार आनंदम तक रेडियो नाटकों को मंच नाटकों का रूप देने का प्रयत्न करते रहे हैं। परन्तु मंच नाटक की अपनी सीमाएं

होती हैं उसमें 'फ्लैश-बैक' या 'फ्लैश-फार्वड' का प्रयोग नहीं हो सकता और न ही स्वप्न के दृष्यों को दर्शाया जा सकता है। अतः एक ही 'सेट' का अधिक से अधिक उपयोग मंच नाटक की सब से बड़ी शक्ति है, जिसे श्री नरेन्द्र खजूरिया ने अपने नाटक 'रास्ता कांटे और हाथ' में सफलता से निभाया है । आजकल 'प्रतीक मंच' के जो प्रयत्न हो रहे हैं उन्होंने जम्मू-कश्मीर के हिन्दी नाटक साहित्य पर प्रभाव नहीं डाला। मंच नाटकों के प्रस्तुतीकरण के बारे में श्री कविरत्न ने नाटकों की आत्मा को समझने का भरपूर प्रयत्न किया है और वे उस में सफल भी रहे हैं परन्तु उन्होंने शायद ही किसी स्थानीय लेखक की नाटक रचना को रंग मंच पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया हो। वे प्रायः बंगला एवं मराठी नाटकों के हिन्दी रूपांतरों को प्रस्तुत करने के चक्कर में पड़े हुए हैं।

रेडियो नाटक के मैदान में स्वर्गीय नरेन्द्र खजूरिया के बाद सुतीक्ष्ण कुमार आंनदम तथा संतोष कौल के नाम उभर कर सामने आए हैं। जहां सुतीक्ष्ण कुमार आनंदम के रेडियो नाटकों में तारतम्य की कमी है वहां संतोष कौल के नाटक शुष्क एवं बे सिर पैर के हैं। कविता एवं कहानी में तो नवीनता की यह बात सहन हो जाती है मगर रेडियो या मंच नाटक के बारे में यह हज़म नहीं हो सकती क्यों कि इसका सीधा सम्पर्क दर्शक या श्रोता के साथ होता है। मगर सुतीक्ष्ण कुमार आनंदम से इस बारे में काफी आशाएं हैं और हो सकता है कि भविष्य में उनकी कला निखर आए और वह सशक्त रचनाएं साहित्य को दे सकें। वैसे सुतीक्ष्ण कुमार आनदम ने कॉलरिज की लम्बी कविता **'द' राईम भ्राफ द ऐन्शन्ट मैरिनर'** का जो हिन्दी काव्य रूपांतर किया है वह नाटक कला को एक अदभुत देन है।

डॉ० ओम प्रकाश गुप्त ने अपनी साहित्य रचना के प्रारम्भिक काल में 'युद्ध और शांति' के नाम से ऐतिहासिक नाटकों का एक संग्रह प्रकाशित किया। इस संग्रह में उनके चार एकांकी—**सम्राट पृथ्वी राज चौहान, अशोक का शोक, लोहे से लोहा** एवं **होली** संकलित हैं। डॉ० ओम प्रकाश गुप्त के स्वभाव में जो भावुकता की प्रचुरता है वह इन नाटकों को प्रभावशाली बनाने में काफी हद तक सहायक रही है। देश प्रेम की भावना से ओत-प्रोत ये एकांकी उनकी भारतीयता की भावना की प्रबलता के प्रतीक हैं। शायद डॉ० ओम प्रकाश अब मेरे साथ सहमत हों कि उनके इन नाटकों में भावुकता अधिक

एवं प्रौढ़ता कम है परन्तु दूसरी ओर नाटक साहित्य चूंकि जन-मानस के लिये होता है अतः उसमें प्रौढ़ता की आवश्यकता भी नहीं होती। तीसरे इन नाटकों की पृष्ठभूमि चूंकि ऐतिहासिक है अतः इस में विद्वत्ता एवं प्रौढ़ता झाड़ने की अधिक गुंजायश भी नहीं। जहां तक आलेख की ग्रिप का सम्बंध है उसमें वह पूर्णतः सफल रहे हैं। इन नाटकों को मंच पर प्रस्तुत करने के कुछ एक प्रयास हो चुके हैं और वे सफल भी रहे हैं।

हिन्दी नाटकों की यहां पर जन-साधारण से दूरी का एक कारण इन का बोझीला पन है। मोटे-मोटे शब्दों से लदे हुए कलिष्ट संवाद एवं संस्कृत सम्बोधनों का प्रयोग इन नाटकों को जनसाधारण से दूर ले गया है। कई बार तो संवादों का अशुद्ध उच्चारण भोंडेपन की सीमा तक चला जाता है। दूसरे, नाटकों में आंचलिकता का अभाव है। दो एक नाटकों में दिये गए संवादों को छोड़ यह दोष सभी नाटकों में अखरता है और यह नाटक एक अपरिचित वातावरण को प्रस्तुत करते हैं जिससे नाटक जन साधारण को ग्राह्य नहीं हो सकते। अब रामलीला में भी आंचलिकता के आधार पर फेर बदल कर लिया जाता है। वैसे भी आग़ा हशर काश्मीरी के हिन्दी नाटक 'हरिश्चन्द्र' और पंडित नारायण प्रसाद बेताब की रामायण को लोगों ने किसी हिन्दी साहित्यकार की रचना से अधिक अपनाया है। यह इस लिये कि उन में कलिष्टता नहीं और जन साधारण के मन मस्तिष्क में आसानी से उतर जाते हैं। नाटककार एवं जन मानस से दूरी का एक कारण यह भी है कि जम्मू-कश्मीर में आंचलिक नाटक आंदोलन का वह सशक्त माध्यम पर्याप्त नहीं हो सका जो मराठी में 'तमाशा' और बंगला में 'जात्तरा' के द्वारा हो सका है। इसीलिये तो सिनेमा की तड़क-भड़क के बावजूद भी इन प्रदेशों में नाटक जन जीवन से जुड़ा हुआ है। कश्मीर में भांड-जशन एवं भगत थियेटर ने कुछ हद तक कश्मीरी-लोक-जीवन में अपना स्थान प्राप्त किया है। मगर इस आंदोलन को हिन्दी अथवा उर्दू साहित्य के साथ जोड़ने का प्रयत्न अब तक नहीं किया गया। शायद हरिकृष्ण कौल, मोहन निराश और मोती लाल क्यमू इस दिशा में कुछ काम करें इस से कश्मीरी एवं हिन्दी नाटक साहित्य दोनों का लाभ हो सकता है।

जहां तक जम्मू प्रांत की लोक-नाटक परम्परा का सम्बंध है, यहां पर कोई सशक्त माध्यम प्राप्त नहीं हो सका है। हालांकि श्री जितेन्द्र शर्मा ने

लोक परम्परा की तलाश में जागरना एवं टड्डु[1] में इसका मूल खोजले की चेष्टा की है किन्तु यह बात कुछ जचती नहीं है। क्योंकि जगराता एवं टड्डु में सामूहिक सहयोग (Mass participation) नहीं है। प्रायः जागरना में (जिसे कठुआ की आंचलिक भाषा में 'तमच्चड़ा' कहा जाता है। पुरुषों के लिये वर्जित होता है। इस बात को श्री शर्मा ने स्वयं स्वीकारा है कि जागरना अश्लीलता का पुट अधिक होता है अतः हमारा समाज इतना विकसित नहीं कि नारियों की यह अश्लीलता पुरुषों के सामने प्रस्तुत हो सके। इस तरह जगराता का स्कोप सीमित सा हो कर रह जाता है, और इस में 'टेल' के स्थान पर टोटके अधिक होते हैं। दूसरे, टड्डु में भी गाथा के स्थान पर स्वांग, टोटके बाज़ी, अश्लीलता, एवं नाच गाने पर अधिक ज़ोर दिया जाता है क्योंकि इसका अभिप्राय शोक-युक्त परिवार का शोक तुड़वाना होता है। इसे हम 'मनोरंजन' कह सकते हैं—नाटक का माध्यम नहीं जबकि तमाशा, एवं जात्तरा में देखा गया है कि कथा वस्तु भी होती है और पात्र भी, इसमें नाटक के सभी तत्व मौजूद होते हैं। खेद का विषय है कि जम्मू प्रांत का डोगरा इतिहास वीरगाथाओं से भरा पड़ा है। जिसमें इन वीरों के परिवारों के मर्म एवं भावनाओं को लोक गीतों में प्रस्तुत किया गया है मगर नाटक का माध्यम इन गाथाओं को दर्शाने के लिये उपलब्ध नहीं हो सका। इसका एक कारण इनके जीवन का बिखराव रहा है और दूसरे आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियां भी हो सकती हैं जिनकी वजह से सभी लोग युद्धों में उलझे रहे अतः इन्हें इस माध्यम को विकसित करने का समय न मिला हो। मगर यह तथ्य भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि साहित्य की अन्य विधाओं–लोक गीत, लोक संगीत, लोक-चित्रकला, एवं लोक गाथाओं का विकास हुआ तो इसका विकास कैसे रुक गया। अब जबकि डोगरी साहित्य की रेनेसां (Reniassaiee) का युग आया है तो ऐसा लोक मंच आंदोलन विकसित किया जा सकता है जिसमें अपनी मौलिकता हो अतः हमें अपनी खोई हुई ऐंटिटी मिल सके। इसके लिये जहां साहित्यकारों पर उत्तर-दायित्व आता है वहां नाटक निर्देशकों एवं निर्माताओं पर भी यह दायित्व है कि वह इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अपना योगदान दें। जब एक बार यह माध्यम प्राप्त कर लिया जाए तो हिन्दी एवं उर्दू के द्वारा यह फैल भी

---

१. जम्मू में रंगमंच की परम्परा; उद्भव एवं विकास : शीराज़ा (हिन्दी) जुलाई-दिसम्बर १९७८ पृ० ३४

सकता है। अब जबकि खुले मंच (open thearre) के सफल प्रयोग दिल्ली एवं चंडीगढ़ में हो चुके हैं तो यह काम और भी सहज है। इस में बात कल्पना एवं आविष्कार की है। [वैसे खुले मंच का प्रयोग् बसोहली नगर की रामलीला में वर्षों से हो रहा है] अगर एक बार यह माध्यम मिल जाए और हिन्दी के लेखक इस को अपना लें तो उनका जन जीवन से जो अल-गाव है वह समाप्त हो जाएगा।

———

जम्मू की हिन्दी कहानी में वर्ग—चेतना

—-डॉ० आदर्श

जम्मू का क्षेत्र अहिन्दी-भाषी क्षेत्र है तथा इस क्षेत्र में हिन्दी साहित्य की साधना की कठिनाइयों को हिन्दी भाषी क्षेत्र में ह कर महसूसना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है इस बात को तल्खी से तभी महसूस किया जा सकता है जब कुछ समय तक हिन्दी भाषी क्षेत्र से अहिन्दी भाषी क्षेत्र में आकर रहा जाये, यहां की कठिनाइयों को करीब से देखा जाये। एक भी अच्छी पत्रिका जिसे स्तरीय पत्रिका कहा जा सके, नियमित रूप से हिन्दी भाषा में प्रकाशित न होने के कारण यहां का हिन्दी कहानी लेखन का इतिहास समृद्ध न सही पर अपना कुछ प्राचीन अस्तित्व ज़रूर रखता है. और आज युवा-पीढ़ी के हाथ में रहते, उसके उज्ज्वल भविष्य की आशा की ही जा सकती है।

आज की कहानी का विषय यद्यपि समाज का प्रत्येक वर्ग है परन्तु विशेष रूप से युग बोध को समझते हुए हिन्दी कहानी का मुख्य विषय मध्यम वर्ग, निम्नवर्ग तथा उस से भी नीचे की सतह को छूकर जीता हुआ वह आदमी है जिस को हिन्दी कहानीकार अपने कैमरे के फोकस में ला कर सामाजिक असमानताओं पर पूर्ण कठोरता व क्रूरता से कुठाराघात करने को कटिबद्ध हैं। कहानी के नाम पर वे राजा-रानी, जासूसी, कौतूहल-पूर्ण व चमत्कारिक सामग्री की नशीली गोलियां देना सामाजिक अपराध समझते हैं तथा इस अपराध के प्रति वह अब पूर्ण रूप से सचेत हैं। हिन्दी कहानी में आम आदमी के नाम पर इतना कुछ लिखा जा चुका है कि कई

बार यह सामाजिक-चेतना नारेबाजी से युक्त, लेखकीय-चेतना द्वारा शब्दों में उतर कर खोखली भी लगने लगती है। कई बार इस को गुटबाजी का शिकार भी होना पड़ा और इसे प्रतिबद्ध लेखन के नाम पर समान्तर कहानी, अकहानी, नई कहानी और भी न जाने क्या-क्या नाम देकर कई खेमों में बांटा गया। पर कुल मिला कर यह बात फिर भी लाभदायक रही कि इन सब लड़ाई झगड़ों से बेखबर, एक हाथ से अपने पेट की भूख दबाये वह बेबस आदमी शोर में खोया नहीं, कुछ अंशों तक सब की नज़रों में रहा तथा इस प्रकार का लेखन पाठकीय चेतना को झिंझोड़ता भी रहा। जम्मू के हिन्दी लेखन में भी इस वर्ग को अधिक महत्व दिया गया तथा पिछले दिनों लिखे गये साहित्य को पढ़ने से लगता है कि निम्न-मध्यम-वर्गीय समाज अपने पूरे वातावरण के साथ कहानियों में उभरता चला आया है। मुख्य कारण इस का यह भी है कि अधिकांश हिन्दी लेखक स्वयं भी इसी श्रेणी में रहते हुए जीवन-यापन कर रहे हैं और अपने परिवेश के प्रति उन की सही समझ यथार्थ पर पकड़ बन कर उन की कहानियों को समृद्ध बनाती चली गई है।

श्री चंचल शर्मा की कहानी—रंग गहरे हैं—का नायक एक दफ्तर का बाबू है। वह कहता है—"मैं दफ्तर में एक बाबू हूँ। छोटा सा बाबू। जिस की आय बहुत कम होती है। काम तो दफ्तरों में बाबू को ही करना होता है। बड़ी-बड़ी मिसलें कुछ पुरानी, कुछ नई, सभी बाबू को पढ़नी होती हैं और फिर नई पुरानी बातें स्मरण रखनी होती हैं। नये नये कायदे कानून बनते हैं। ..... आफिसर तो केवल हां या ना ही लिख देता है या हस्ताक्षर बिठा देता है। पर यह सब करने पर भी बेचारे बाबू को पगार उतनी ही मिलती है—जिसके साथ भी गुज़ारा न हो और जिस के बिना भी गुज़ारा न हो।" इस प्रकार एक कर्लक की बेबसी से लेखकीय सहानुभूति जुड़ी ही नहीं है. लगता है खुद लेखक ही अपनी बात कह रहा है। मंहगाई के कारण वह त्रस्त है। वह पूछना चाहता है कि किस प्रकार एक छोटी सी बंधी-बधाई पगार से वह मंहगाई के पहाड़ को पार कर सकेगा?

अनिल सहगल की कहानी—कोहरे में—से में भी लेखकीय सहानुभूति कुछ मजदूरों की मौत पर बड़े मार्मिक रूप से उभरती है। कहानी की कुछ पंक्तियां इस तरह हैं—"आज पहली बार उसके घर से जीत कर उठा हूं ... . हास्पिटल के निकट कुछ मजदूरों की भीड़ लगी है। आवाज़ों

से ज्ञात होता है कि वग्गी में टनल के एक हिस्से के गिर जाने के कारण बारह मज़दूरों की मौत हो गई ।...... अचानक मेरी जीत हार में बदल जाती है। छंटा हुआ कोहरा फिर घना हो चला है। सफेद चादरों में लिपटी लाशों को देख कर शतरंज के सिपाहियों का ख्याल हो आता है। ...... लगने लगा है कि घने कोहरे में से सही-सलामत बाहर निकल पाना सचमुच सभी के लिए तो सम्भव नहीं है—" इस प्रकार कहानीकार मज़दूरों की मौत को अपनी हार मान कर उन के प्रति अपनी संवेदना को प्रकट ही नहीं करता अपितु उन के प्रति वह अपना कुछ दायित्व भी समझता है और वह यह भी महसूस करता है कि गरीबी में जीना अर्थात् कोहरे से सही सलामत बाहर निकल पाना कितना दुष्कर है।

बलनील देवम् की कहानियां चाहे कितनी ही कच्ची क्यों न हों पर यह मानना ही पड़ेगा कि निम्न मध्यवर्गीय पात्रों से उन की सहानुभूति बिल्कुल पक्की है। उन की अधिकांश कहानियों में इस वर्ग में व्याप्त झुंझलाहट, बेबसी, आक्रोश, वीभत्सता देखने को मिलती है। उनकी कहानी उल्कापात का एक अंश इस तरह उभर कर अपनी बात कहता है—'क्या आप नहीं सोचते कि सोना पागल हो चुकी है। रजनी चिड़चिड़ी हो गई है और रोज ही लड़ना उस का काम हो गया है। सारा दिन भीतर ही भीतर घुलती रहती है। आखिर क्यों...... ! शादी न होने के कारण...... शादी क्यों नहीं होती? इसी लिए न कि अपनी अग्रवाल बिरादरी में हजारों और लाखों रुपये देकर लड़की देनी पड़ती है। हज़ारों और लाखों........हैं हमारे पास हजारों, लाखों रुपये.. ? .. कहां से आयेंगे इतने रुपये जब आप की तनख्वाह पौने तीन सौ है। क्या सोना की तरह ही पांचों लड़कियां भी पागल हो कर घर में बन्द हो जायें........ दिवारों से सर टकरा टकरा कर खत्म हो जायें... ?" इस तरह के अनेक प्रश्न हैं जिन्हें कहानीकार अपनी विभिन्न कहानियों के पात्रों द्वारा पाठकों पर उछालता है और यह आशा भी करता है कि समाज एक न एक दिन इन प्रश्नों के उत्तर भी देने में सक्षम हो सकेगा।

रमेश मेहता की कहानी—एक मादा प्रतिशोध—यद्यपि एक दूसरे कोण से लिखी गई कहानी है पर मध्यम वर्गीय आर्थिक तंगी के सामने झुक कर बाजारू सा बन जाने की बेचारगी भी दर्शाती है—"तुम ठीक कह रही

हो शालू। सब ठीक चल रहा है। मेरा दफ्तर जाना और उन्नति करना—बिल्कुल ठीक चल रहा है। तुम्हारा नित नया मेकअप करना एक से दूसरे की बाहों में झूलते चले जाना ......लेकिन एक स्थान पर यह सब किसी भी कोण से ठीक नहीं चल रहा है शालू और वह कोण है............मुन्नी—''। मध्यम वर्ग की अपनी विवशता है। उसे अच्छे रहन-सहन का दिखावा भी करना पड़ता है और सीमित आय में गुजारा भी। इसी लिए इस को 'व्हाइट कालर परसनैलिटि' कहा जाता है। इस प्रकार का परिवार जब अपने तनाव की सीमा तक पहुँच जाता है तो टूटन को जन्म देता है और इसी टूटन से सामाजिक विकृतियां जन्म लेती हैं। आर्थिक दौड़ में सब कुछ पा लेने की आकांक्षा आदमी को बिकने पर मजबूर कर देती है, रमेश मेहता की कहानी का यह अंश कुछ कुछ यही झलकाता है।

डॉ० ओम प्रकाश गुप्त की कई कहानियों में भी इसी वर्ग के कई मार्मिक चित्र उभरे हैं। उन की एक कहानी–गुब्बारे–पहाड़ी भोले बच्चे को लेकर लिखी गई है जिस को जंगल का ठेकेदार नौकर बना कर शहर ले आया है। उच्च-वर्ग की दरिन्दगी का शिकार उस गरीब की मां होती है, तब कहीं वह गरीब नौकरी पाता है। मासूम बच्चे की भोली समझ धीरे-धीरे भयानक वस्तुस्थिति समझती है और वह 'समझदारी' की ओर कदम बढ़ाता है—''शोरी लाल को मालूम है कि मालिक घर में बहुत कम क्यों रहता है। पहाड़ में उसने एक गूजरी रखी हुई है। उसे वह दिन याद आता है जब नौकरी पाने के लिए उसके बापू ने उस की मां को मालिक के पास भेज दिया था। उस की मां का चेहरा अजीब दागों से भर गया था। उस समय उसने सोचा था जंगल के मच्छरों ने काटा होगा। ...... लेकिन उस के हृदय को पहला धक्का उस समय लगा जब रात को मुनीम ने उसे जोर से भींच लिया और प्रातः झाड़ू देते समय उसने मालकिन के शीशे में देखा तो उस के गाल पर भी वैसा ही एक निशान बना हुआ था जैसे कि उसने उस दिन मां के मुंह पर देखे थे।'' इस में कोई सन्देह नहीं कि इस भोले बच्चे के दिल पर जीवन भर के लिए निशान गहरे अंकित हो चुके होंगे। गरीबी के नासूरों से मासूम समझ का पहला परिचय यदि उससे कभी विद्रोह करवा दे तो यही उच्च वर्ग उस को अपराधी का ठप्पा लगाने में तनिक भी संकोच नहीं करेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जम्मू के संदर्भ में हिन्दी कहानी लेखन में वर्ग चेतना-विकसित रूप में उभरती है। पर यह भी सत्य है कि इस को मुख्य विषय जम्मू के हिन्दी कहानीकारों ने अभी नहीं बनाया है और न ही इस परम-आवश्यकता के प्रति वह सचेत ही हुए हैं। यहां की हिन्दी कहानी में अभी तक व्यक्तिवादी चेतना ही अधिक प्रभावी है तथा अधिकांश कहानियां निजी माहौल तक ही सीमित हैं। परन्तु इतना सब होते हुए भी यहां के कहानीकारों द्वारा हिन्दी साहित्य के निरन्तर अध्ययन व अनुशीलन को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि जम्मू क्षेत्र में हिन्दी कहानी हिन्दी भाषी क्षेत्रों की कहानियों से होड़ ले सकेगी और वर्ग चेतना के क्षेत्र में अनेक कहानियां दे कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध बना सकेगी।

जम्मू की हिन्दी कविता

—प्रो० सुभाष भारद्वाज

हिन्दी कविता के आधुनिक काल का विकसित रूप इस शताब्दी के प्रथम दशक में सामने आया। देश के अन्य भागों में होने वाले राजनैतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों की भांति हिन्दी कविता की यह नई करवट भी एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था और जम्मू क्षेत्र पर इस का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। तीसरे दशक तक पहुँचते-पहुँचते जब आधुनिक हिन्दी कविता निखर कर सामने आई तथा जब इस की शैलीगत विशेषताओं ने एक स्पष्ट आकार ग्रहण कर लिया तो जम्मू में भी कवियों की लेखनी इस दिशा में सरकने लगी।

लगभग तीसरे दशक के अन्तिम वर्षों में ही एक कवि का कविता पाठ पुरानी मण्डी जम्मू में सुनने को मिला। नौ-दस वर्ष की आयु में सुनी गई यह कविता तो स्मरण नहीं किन्तु उस कवि का नाम अवश्य याद है। यह नाम था स्व० 'पिपासु' का। कई बार मन में आता कि वह ओजस्वी कविता सुनाने वाला कवि एकाएक कहां चला गया? और जब छठे दशक में भी शंकर शर्मा पिपासु को जम्मू के साहित्य-क्षेत्र में पुन: सक्रिय पाया तो पता चला कि यह वही पिपासु हैं जिन के काव्य कौशल की झलक मैं बरसों पहले देख चुका था।

पिपासु के कवि ने छायावाद के उत्कर्ष-काल में आंखें खोली थीं। अतः इनकी सभी रचनाओं में लगभग उसी शैली की छाप अंकित है। 'तेरा नाम अमर हो मुझ से, मैं फिर तुझ से अमर बनूं' और 'विरह तुम्हारा अमर गान है मिलन मौन अस्पन्दित सा'। इसी प्रकार अचीन्हे प्रिय के विरह में अकुलाया हुआ कवि पुकार उठा है—'अनुपमा छवि नाचती है लोचनों में आज मेरे' और 'दु:खद दु:ख भी सुखद हो अपना रहा मुझ को स्वयं क्यों?'

देश के अन्य असंख्य साहित्यकारों की भांति श्री पिपासु भी आर्थिक कठिनाइयों के कारण एक दो से अधिक कविता संग्रह प्रकाशित नहीं कर सके हैं। 'दो चांद' नाम से आप का प्रथम संग्रह १९६५ में प्रकाशित हुआ था। यद्यपि आपकी कविताएं मुख्यत: छन्दोबद्ध हैं परन्तु नये युग के साथ चलने की होड़ में आप ने कुछ कविताएं मुक्त-छन्द में भी लिखने का प्रयास किया है—

'मन में सुख-शान्ति भरी
जीवन की तरी तरी
नाम हुआ दुनियां में
काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष
सहजता से पा लिया।'

परन्तु तुक तथा मात्राओं की एकरूपता के कारण इन रचनाओं को मुक्त-छंद की कोटि में न मान कर 'लगभग छन्दोबद्ध' कहना ही अधिक समीचीन होगा।

श्री बंसीलाल सूरी को हिन्दी के अनन्य प्रेमी के रूप में तो मैं शैशव-काल से ही जानता था किन्तु उनके कवि रूप को मैंने सर्वप्रथम छटे दशक की साहित्यिक गोष्ठियों में ही देखा। उनकी रचनाएं सुन कर चौंक सा गया। लगा कि आप एक अत्यन्त सशक्त एवं सिद्धहस्त कवि हैं। श्री सूरी राष्ट्रीयतावादी विचारधारा के व्यक्ति थे। राष्ट्रीय आंदोलनों के साथ उन का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसीलिए आपके आध्यात्मिक विचारों पर कहीं भी संकीर्णता की छाया दृष्टिगत नहीं होती। 'झूठी दीवारें' शीर्षक कविता आपके धर्म निरपेक्षतापरक विचारों से ओत-प्रोत है।

"मित्र! पैगम्बर और अवतार की
समानार्थ शब्द-ध्वनियों के अनुसार
एक ही शक्ति के इन
प्रतिनिधियों के प्रति
हमारी यह उपहासपूर्ण
अवहेलना क्यों ?"

ब्राह्मण और शेख दोनों को सम्बोधित करके कहते हैं—

'हम दोनों धार्मिक

और अंधविश्वासी
विडम्बनाओं
और रीति रिवाजों के
बन्दी हैं'

श्री सूरी अपनी कविताओं का आरम्भ प्रायः मित्र अथवा सुहृद शब्द से करते हैं। आप की कविताओं को पढ़ कर लगता है आपके कवि हृदय पर वेदान्त और उपनिषदों की गहरी छाप के साथ-साथ देश की आधुनिक समस्याओं और सामाजिक विडंबनाओं के प्रति एक मुखर जागरूकता भी है। आपकी शैली पर भी यद्यपि छायावादी युग की गहरी छाप है परन्तु आप की अधिकांश रचनाएं छन्दमुक्त होने के साथ ही नवीन एवं उत्तेजक भाव-प्रदर्शन तथा नवीन बिम्बों के सफल प्रयोग के कारण नयी कविता के अधिक समीप ठहरती हैं। आप की कविताओं का संकलन अकादमी द्वारा 'सहस्रमुखी' शीर्षक से प्रकाशित किया गया है। श्री सूरी का असमय निधन हो जाने से जम्मू के साहित्यिक क्षेत्र को अपार क्षति पहुँची है।

चौथे दशक के मध्य में प्रिंस ऑव वेल्ज कालिज जम्मू के अपने अध्ययन काल से ही श्री चन्द्रकान्त जोशी के कवि जीवन का आरम्भ होता है। आप की प्रारम्भिक रचनाएं कालेज की पत्रिका 'तवी' में तथा लाहौर के हिन्दी पत्रों में प्रकाशित होती रहती थीं। सम्भवतः आप विभाजन से पूर्व हिन्दी साहित्य मण्डल की गोष्ठियों में भी भाग लेते थे। जम्मू में आप की कवि रूप में ख्याति विभाजन के बाद ही हुई। जोशी हालावाद के परम-प्रशंसक तथा छायावाद से बहुत प्रभावित थे। अपने मसृण भावों की उड़ान तथा कोमलकांत शब्द-विन्यास के कारण आप को जम्मू के हिन्दी कवियों में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। 'अनजान पहचान' शीर्षक गीत में यद्यपि कवि संसार से प्राप्त अन्याय के प्रति अपनी विवशता प्रकट करना चाहता है, पर कविता की आरंभिक पंक्तियां छायावादी अजाने प्रिय के प्रति अनंत विरह को प्रकट करती हैं। आप ने उस के प्रति अपने प्रेम को सपना कहा है। 'गीत के पहले बोल' की ये पंक्तियां--

'दूर कुछ देखा उस ने चांद। गया उस नील-क्षितिज को फांद।
पुनः उड़ता पंखों को तोल। मिला क्या लेकिन वह अनमोल'।

छायावाद की शैली के अन्तर्गत आती है। प्राकृतिक सौन्दर्य पर लिखी आपकी **'कश्मीर—एक अनुभूति'** शीर्षक कविता अपने समासबहुल, संस्कृतनिष्ठ कोमल शब्दों और नाद-सौन्दर्य द्वारा सहसा आपको श्रेष्ठ हिन्दी कवियों की कोटि में ला देती है। हिन्दी तथा संस्कृत के अतिरिक्त उर्दू भाषा पर भी आपको समान अधिकार है—**'बेदाग बचा है दुनियां में कोई भी एक बशर देखो।'** जोशी का एक संग्रह **'दु:ख-सुख'** नाम से फारसी लिपि में प्रकाशित हो चुका है। अभी तक हिन्दी में आपका कोई संग्रह प्रकाश में नहीं आया है।

डॉ० गंगादत्त शास्त्री 'विनोद' ने कविता लिखना १९४० में आरंभ किया था। आप की कविता मुख्यत: राष्ट्रीय तथा आध्यात्मिक भावों से सिक्त रहती है। छायावादी शैली का प्रभाव आप की कविता में अभी तक बना हुआ है। इधर कुछ समय से आप की रचनाओं में आध्यात्मिक और राष्ट्रीय आदर्शवादिता के अतिरिक्त यथार्थ की ओर भी प्रवृत्ति उभरने लगी है—

लड़खड़ाते भिक्षुओं की टीस
से भी हिल चुका हूं—और निर्बलों की करुण आहें
हृदय में ज्वाला बहायें।'

'मैं लेखक हूँ' नामक रचना में आप ने आज के साहित्यकारों के आडम्बर भरे जीवन पर एक चुभता व्यंग्य कसा है—

'हिन्दी हो या डोगरी
मेरा इनसे क्या रिश्ता
जो चोखा माल खिलाए मुझको
मैं उस के हाथों बिकता।'

'कश्मीर का इन्किलाब' और **'उल्लोल'** नाम से आप के दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री श्यामदत्त 'पराग' यद्यपि पिछले कई वर्षों से जम्मू से बाहिर हैं तो भी जम्मू के कविता-प्रेमी उन्हें भूले नहीं हैं। श्री पराग भी पांचवें दशक में ही प्रकाश में आये थे। अपने काल के बहुत से कवियों की भान्ति आप भी छायावाद से अत्यधिक प्रभावित हैं। कवि की परमतत्व को पाने की उत्कट अभिलाषा तथा उस से तारागण की प्राप्ति की आकांक्षा की झलक देखिये—**'कभी मधुर नूपुर-ध्वनि बनकर, तव मुस्कान अधर पर।'** और फिर—**'कभी गहन सागर में घुस कर निमिष मात्र में ही मथ डाला।'** और—**'कभी जगत**

के सर्वनाश का प्रलयकारी चित्र बनाया।' परन्तु इस पर भी—**'मैं तुझ को पहचान न पाया।'** गेयता पराग की कविता का विशेष गुण है। छन्द-प्रिय होते हुए भी कवि ने कुछ छन्दमुक्त रचनाएं की हैं परन्तु उन में कवि को अधिक सफलता नहीं मिल सकी। छायावाद के परिवेश से मुक्त होने का प्रयास कवि ने अवश्य ही किया है परन्तु अभी तक इस दिशा में उनके अग्रसर होने के प्रमाणस्वरूप उन की कोई रचना उद्धृत नहीं की जा सकती। अभी तक आप का कोई भी प्रकाशित संग्रह देखने में नहीं आया। हो सकता है छप चुका हो और मुझ तक न पहुँच पाया हो।

श्री मनसा राम शर्मा 'चंचल' का जम्मू के साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश तब हुआ जब आप १९६२ में योजना के सम्पादक बन कर यहां आए। आप पाचवें दशक से भी बहुत पहले से लिख रहे हैं। जब आप 'हिन्दी मिलाप' जालन्धर के सम्पादकीय विभाग में थे तब आप पंजाब के साहित्यिक क्षेत्र में अत्यन्त लोकप्रिय थे।

चंचल मुख्यतः श्रृंगारिक कवि हैं—

'तुम्हारे नयन कोरों में
प्रणय की ज्योति जलती है'

तथा **'लगी आंखें अगर मुझए तो इसमें दोष मेरा क्या।'** इस हिन्दी गजल द्वारा कवि उर्दू के गजलकारों से टक्कर लेता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार :—

'धधकती है इस हृदय में एक ज्वाला
वेदना को प्रिय समझ कर है सम्भाला
है हलाहल प्रिय मुझे भाती न हाला।'

इस गीत में प्रणयी मन की अपार वेदना उद्भासित हुई है।

इनकी कृतियों में समुचित छन्दयोजना के साथ भावाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त एवं प्रवाहशील शब्दविन्यास इनकी प्रौढ़ लेखनी के परिचायक हैं। सुषमा और अश्रुमाला नाम से आप के दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

पांचवें ही दशक में जो कवि सामने आये उन में **सुभाष भारद्वाज** भी हैं। लिखना तो आप बहुत पहले शुरू कर चुके थे परन्तु कविरूप में आप

की प्रसिद्धि, पांचवें दशक के आरंभ में, एक उग्र-वामपंथी कवि के रूप में राजनीतिक-सभाओं तथा साहित्यिक संस्थाओं द्वारा आयोजित कवि सम्मेलनों द्वारा हुई। कवि का राजनीतिक व्यवस्था एवं समाजगत विषमताओं के प्रति रोष एवं आक्रोशभरा स्वर उन दिनों अक्सर सुनने में आता था।

'ये भिखमंगों के भगवान
ये भूखों के भाग्य विधाता
देख रहे हैं आज तमाशा।' तथा
'गीता और कुरान ने देखा
अल्लाह और भगवान ने देखा
नेहरू की सरकार ने देखा, दिल्ली के दरबार ने देखा
रेल की पटरी के ऊपर रख दी उसने अपनी छाती।'

जनता की सरल भाषा के साथ साथ आप तत्समशब्द प्रधान रचनाएं भी लिख रहे थे। 'ताण्डव' शीर्षक कविता में—

'कोकिल की मधुर कुहू में
मुझे भरना है रव रण का
मृत्यु का गीत सुनाना है
नहीं संभव यदि जीवन का' तथा
'विषम को यदि करना है सम
मिटाना है यदि युग का भ्रम
त्रस्त को करना होगा व्यस्त
ध्वस्त को करना होगा क्षार
क्षार से जो निकलेगा तथ्य
वही होगा शिव-सुन्दर-सत्य'

कवि वर्तमान व्यवस्था को आमूल उखाड़ फैंकना चाहता है। उस का विचार है कि इस में किसी सुधार की गुंजाइश नहीं। अपने इस काल के कवि जीवन में भारद्वाज को लोक—रुचि का अधिक ध्यान रखने के कारण निःसन्देह बहुत लोकप्रियता मिली है, परन्तु एक वाद विशेष के साथ सम्बद्ध होने के कारण आप की कविता में नारेबाजी आ गई है, जो उस काल के प्रगतिवादी कवियों में प्रायः देखी जाती थी। १९६० में 'ताण्डव' नामक कविता संग्रह प्रकाशित होने से बहुत पहले भारद्वाज की कविता एक जोरदार

करवट ले चुकी थी। यह नई कविता का प्रभाव था। इस दिशा में जम्मू में आप ने ही सर्वप्रथम प्रयास आरम्भ किया। 'तन्द्रा टूटी', 'नींद', 'दर्पण', 'कागज़ की वेदना' आप की इस नई करवट की प्रतीक हैं। कवि के भाव तथा शैली दोनों में आमूल परिवर्तन आ गया है—

'तन्द्रा टूटी
किस की? मेरी?
नहीं
तुम्हारी? नहीं
हमारी? टूटी, हां टूटी
सब कहते हैं टूटी।'

इसी प्रकार—

आया है
मेरे बृज में आया है ऊधो
जो मेरे बृजवासियों को भूखों रह जीने का
अचीन्हे ब्रह्म को उपासने का
सन्देश दे जाएगा'

और इसी तरह—

हम कागज हैं ऐसे
जिन पर, जो आता है
कुछ न कुछ लिख ही जाता है

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि को व्यंजनापूर्ण शैली द्वारा नवीन प्रतीक योजना करने में अत्यन्त सफलता मिली है। आपकी छठे दशक की अधिकांश नई कविताएं 'रेत का सागर' नाम से संग्रह रूप में छप चुकी हैं और यह पुस्तक जम्मू-कश्मीर ललितकला, संस्कृति तथा साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत भी हो चुकी है। कवि ने छन्दोबद्ध, मुक्त छन्द तथा छन्द मुक्त तीनों शैलियों में सफलतापूर्वक लिखा है। आप की भाषा अत्यन्त उपयुक्त और ओजपूर्ण होती है। दो कविता संग्रहों के अतिरिक्त आप गद्यांजली नाम से अकादमी के एक काव्य संकलन का सम्पादन भी कर चुके हैं।

श्री रामकृष्ण शास्त्री की लेखनी पर आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। आप ने विपुल मात्रा में भजन-गीत लिखे हैं जो सगुण-मार्गी भक्त कवियों जैसी तन्मयता, माधुर्य एवं लालित्य लिये हुए हैं। एक श्रेष्ठ कलाकार की भांति आप सदैव शांत वातावरण के लिये लालायित रहते हैं जो जीवन की विषम परिस्थितियों में इन्हें प्रायः सुलभ नहीं रहता। आश्चर्य की बात है कि आप ने अपने जीवन में सभी ओर से अन्याय झेलते हुए भी अपनी कविता में कभी भी उद्वेग, कुंठा, ग्लानि अथवा खेद जैसी किसी भावना को उद्भासित नहीं होने दिया है।

हिन्दी एवं संस्कृत की विद्वत्ता आप की प्रत्येक पंक्ति में लक्षित होती है। 'बसन्त बहार' नामक रचना में यह चित्र दर्शनीय है—

'ओढ़े पट नील गगन
धरती के पीत वसन
झूम रहा मत्त पवन
कलियां मुंह खोले'

श्री कृष्ण लीला नाम से आप का एक काव्य ग्रंथ प्रकाशित हो चुका है। यदि मैं भूल नहीं करता तो यह उपरोक्त संग्रह संस्कृत के महाकवि जयदेव के प्रसिद्ध गीतिकाव्य गीतगोविन्द से प्रभावित है। शास्त्री जी ने समय प्रवाह के प्रभाव में आकर अपनी सहज गीतिशैली से हट कर मुक्त छन्द में लिखने का प्रयास भी किया है परन्तु लगता है इस में इन्हें न तो आत्मतुष्टि ही प्राप्त हुई है और न ही इस के द्वारा आप पाठकों अथवा श्रोताओं को आकर्षित कर सके हैं। इस कथन के प्रमाणस्वरूप आप की अभी हाल ही की कृति 'एक दो तीन' को गिनाया जा सकता है।

पांचवें ही दशक में उभरने वाली प्रतिभाओं में श्री दुर्गादत्त शास्त्री का नाम भी आता है। राष्ट्रीयता और शृंगार में आप की रुचि अधिक है। आपकी लेखनी पर छायावादी शैली का प्रभाव बहुत दिनों तक बना रहा परन्तु इधर कुछ वर्षों से आप की लेखनी से राष्ट्रीयता, शृंगार एवं आध्यात्मिकता के अतिरिक्त वर्तमान सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्था के प्रति कटु व्यंग्य और क्षोभ के स्वर भी मुखरित होने लगे हैं—

'देख रहा हूं महादम्भ का कुटिल, भयंकर, मोहक नर्तन
तथा

'मैं पशुता की अंधियारी में साथी ज्योतिर्दान करूंगा'

पशुता की अंधियारी में क्षुब्ध कवि पुकार उठा है—**'फूल जो कुम्हला गये हैं मैं उन्हें कैसे खिलाऊं।'** आप की कविता में कवि हृदय के सहज उद्‌गार हैं। शास्त्री जी किसी भी वाद विशेष की परिधि के भीतर अपने को नहीं बांध सकते। आप के काव्य की आधार-भूमि मानवीयता है।

शास्त्री जी का अधिकांश काव्य छन्दोबद्ध है। इधर कुछ प्रयास आपने मुक्तछन्द शैली में भी किये हैं पर आप इन्हें अपनी छन्दोमय रचनाओं जैसी भाव प्रवणता एवं शैलीगत निखार नहीं दे पाए हैं।

जम्मू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग खुलने से हिन्दी के साहित्य सृजन के क्षेत्र में कई प्रतिभाएं प्रकट हुई हैं। इस दिशा में छटा दशक अत्यन्त महत्वपूर्ण गिना जाएगा। इसी दशक में श्री ज्योतीश्वर पथिक ने लिखना आरम्भ किया। आपने हिन्दी तथा उर्दू में साथ साथ लिखना शुरू किया था। श्री पथिक एक ओर अपने को वास्तविकतावादी कहते हैं (जिससे कदाचित आप का अभिप्राय यथार्थवादी होने से है) पर दूसरी ओर आप किसी भी वाद में उलझना फिजूल समझते हैं। असल बात यह है कि आप मुख्यतः एक शृंगारिक कवि हैं। आप की कविता पर उर्दू का अत्यधिक प्रभाव है। परन्तु उर्दू शब्दावली हिन्दी शब्दरचना में इस तरह घुलमिल जाती है। कि पाठक अथवा श्रोता सहज ही में इनके कथ्य को पा लेता है—

'हर इक घुटन के बाद भी कहता है आदमी
फूलों की कलाओं में कट जाए ज़िन्दगी।'

'नर्स' कविता में समाज के विवश वर्ग की वेदना के प्रति कवि के सहज सहानुभूतिपूर्ण उद्‌गार प्रकट हुए हैं। भाषा के अतिरिक्त छन्दरचना में भी कवि उर्दू से अधिक प्रभावित प्रतीत होता है। एक मजे की बात सुनिये। पथिक को यह खदशा है कि दूसरे साहित्यकार इन्हें कवि नहीं मानते। और इस से चिढ़ कर आप अपने समसामयिक साहित्यकारों को साहित्यकार मानने से इन्कार करते हैं। आप की इस धारणा के पीछे, हो सकता है, कोई साहित्यिक दुर्घटना रही हो, पर मैं मुआमला साफ कर दूं—आप अवश्य ही एक कवि हैं क्योंकि आप की कविताएं इसका स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। हिन्दी में अब तक आप का एक कविता संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम (जो अब सुतीक्ष्ण कुमार शर्मा आनन्दम कहलाना अधिक पसंद करते हैं) का काव्य सृजन भी छठे दशक में आ कर विकसित हुआ। वैसे प्रयास वे कुछ वर्ष पूर्व आरम्भ कर चुके थे। सुतीक्ष्ण मुख्यत: नए कवि हैं। आप अपने आसपास के जीवन से प्रेरणा ले कर लिखते हैं। नवीन बिम्बों और नवल प्रतीकों को जुटाने में आप का प्रयास श्लाघ्य है—

'उबल उबल कर चावल
बंद पतीले में
बुढ़क रहे हैं
बोल रहा है ढक्कन
भापवष हो कर
मांड़ वह रही है बाहर
घुटे घुटे ज्यों
भाव हों मानव के'

और इसी प्रकार 'मृत कविता' में भी—

'पथ में पड़ी
पाषाण अहल्या सी
पर राम
कहीं से आते दिखाई नहीं देते

आज के वुद्धिजीवीवर्ग के जड़ता और कुण्ठा—भरे जीवन का एक चित्र देखिये—

'हमारा यह चिर-परिचित कमरा
खुद हमारा ही
बन्दीग्रह बन गया है'

जीवन की घुटन से समय निकाल कर सुतीक्ष्ण कुमार ने प्रकृति-चित्रण में भी कलम को आज़माया है—

'स्वर संतूर का
गूंज रहा शाम का
झील की बहार में
लहरों के ताल पर
गुजरिया की नाव में'

आप मुक्त छन्द तथा छन्दमुक्त दोनों शैलियों में लिखते हैं। हां भाषा-विषयक आप की धारणा कुछ अनोखी सी लगती है जैसे 'डौले' (पंजाबी) जिस का सुन्दर हिन्दी पर्याय भुजदण्ड हो सकता था का प्रयोग। इसी प्रकार एक स्थान पर आपने 'हंसी' के बहुवचनार्थ 'हासे' (पंजाबी) का प्रयोग किया है । भाषा में भी कुछ सुधार अपेक्षित है । जैसे गिरी (गिरि), कन्द्रा (कन्दरा), (वेषभूषा), भापवष (भापवश) खम्बों (खम्भों) आदि ।

आनन्दम निश्चय ही एक होनहार एवं अत्यन्त महत्वाकांक्षी कवि हैं। आप के अब तक दो कविता संग्रह—देखती आकाश आंखें तथा नौका का इतिहास—प्रकाशित हो चुके हैं । कांप-कांप रहा चक्रबन्धु नाम से एक पद्य-रूपक भी छप चुका है।

डा० ओम प्रकाश गुप्त ने अपना काव्य लेखन छठे दशक में आरम्भ किया था किन्तु थोड़े ही समय में आपकी लेखनी निखर आई है। आप अपने परिवेश से प्रेरणा लेकर लिखते हैं। आप किसी वाद को नहीं मानते—परन्तु निःसंदेह समसामयिक कविता से प्रभावित हैं। आप सहज अनुभूति से प्रेरित होकर लिखते हैं। आस-पास जो कुछ भी सुन्दर, असुन्दर बिखरा पड़ा है, उसे आप विलक्षणता से अपनी कविता में उतारते हैं। आज का बुद्धिजीवी जिस उपेक्षा एवं अवहेलना-भरे माहौल में सांस लेते हुए जिस घुटन, कुण्ठा, जड़ता तथा संत्रास से आक्रांत जिंदगी जी रहा है श्री गुप्त उसे अपने काव्योद्गारों द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। नवीनतम शैली में लिखते अवश्य हैं किन्तु आप की प्रतीकयोजना में (आधुनिक शैली की अधिकांश कविताओं की भान्ति) उलझाव एवं क्लिष्टता कम रहती है। पाठक आप के कथ्य को सहज ही में भांप जाता है। आप की कविता जहां आज के मानव की दशा एवं वेदना को वाणी देती है वहां वर्तमान दुर्व्यवस्था के प्रति कवि का आक्रोश भरा स्वर भी बीच बीच में सुनाई पड़ता है। यद्यपि कवि की प्रवृत्ति अपनी पीढ़ी द्वारा भोगे जा रहे यथार्थ को अंकित करने में अधिक सक्रिय है, तथापि कवि आशा का कोई न कोई छोर अवश्य थामे रहता है जो स्वस्थ साहित्य का चिन्ह है। पर कभी कभी आप इस ऊब, कुण्ठा एवं जड़ता भरे यथार्थ से जरा हटकर प्रकृति की मनोहारिता से अभिभूत हो कर भी कुछ न कुछ लिखते हैं। 'चन्द्रभागा के पुल पर से' नामक रचना में—

'दूर थिरकते पैरों की रुन-झुन से
धवल चन्द्रिका की परछाइं
मानो कुन्दन के आभूषण
जगमग जगमग।'

और :

'हिमगिरि जायी
चन्द्रा री
तू कहां जा रही ?'

छन्दमुक्त शैली आप को अधिक प्रिय है, किन्तु बीच बीच में लयताल-पुष्ट स्वच्छन्द रचना भी करते हैं। भाषा तत्सम प्रधान होते हुए भी बोल-चाल के उर्दू शब्दों को भी बीच बीच में समोए रहती है। आप का एक संग्रह 'सागर के तीर' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

छठे दशक में उभरने वाली प्रतिभाओं में एक और उल्लेखनीय नाम रमेश मेहता का है। साहित्य गोष्ठियों में, एकाधिक बार आपकी कविताएं सुन कर लगा था कि आप के भीतर एक विकासोन्मुख कवि पनप रहा है। सोचा हुआ सच निकला, रमेश मेहता आज जम्मू के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं।

आप की कविता का आधार भी समसामयिक कविता की भान्ति जर्जरित सामाजिक एवं आर्थिक दुर्व्यवस्था ही है। चहुँ ओर व्याप्त ऊब, घुटन और जड़ता-भरे जीवन के अनेक मार्मिक चित्र आप ने अंकित किये हैं। 'एक जीवन अभावग्रस्त', 'अभिशाप' तथा 'एक विवादग्रस्त जीवन' आदि शीर्षकों द्वारा ही कवि की भाव-दिशा का बोध हो जाता है।

कवि वस्तुस्थिति को एक तथ्य के रूप में स्वीकारते हुए कहता है—

'वासनापूर्ण चेहरों पर
नैतिकता के
मुखौटे लगाए
जिये जा रहे हैं हम
एक संघर्षमय जीवन।

वर्तमान आर्थिक विषमता के प्रति कवि में कुढ़न अधिक है और आक्रोश कम। सच भी है, आज का बुद्धिजीवी कुढ़ने के अतिरिक्त कर भी

क्या सकता है ? दिन की थकी हारी सड़कें तो सो गई हैं किन्तु फिर भी !

'कुछ अतृप्त आत्माएं
बेचैनी से भरी
इधर उधर डोलती
फिर रहीं
कहीं कुछ ढूंढ़ती सी ।'

भयावह जड़ता का यह चित्र भी कम अर्थपूर्ण नहीं है—

चौड़ी सड़कों के पीले अंधकार में
विचरने वालों को लगें
जैसे घोस्ट
हम हैं लैम्प पोस्ट'

मेहता की कविता व्यक्तिपरक नहीं । आप अपनी समष्टिपरक, संवेदनासिक्त रचनाओं द्वारा आज की 'बीमार जिन्दगी' जीने वालों को और अधिक बीमार करने वाली बातें न सुना कर उन्हें इस स्थिति से उबारने के लिये थोड़ा सा झिझोड़ देते हैं । जीवन के उजियारे में कालिख पोत देने वाली शक्तियों को सम्बोधित कर कवि कहता है—

'मुझे नव-प्रभात दो
मुझे नई प्रात दो
मुझे मेरे वध का प्रतिकार दो ।'

रमेश मुक्तछन्द और छन्दमुक्त, दोनों शैलियों में लिखते हैं । लगता है आप कविता में गद्यात्मकता के पक्ष में नहीं हैं । तुक और लयताल आप की प्रायः प्रत्येक रचना में दृष्टिगत होती हैं । छन्दयुक्त शैली के उदाहरण अपेक्षतयः कम हैं । आप का संग्रह 'खुले कमरे बन्द द्वार' प्रकाशित हो चुका है ।

श्री जितेन्द्र उधमपुरी का कवि जीवन १९६४ से आरम्भ होता है । यातनाओं भरे जिस परिवेश में हम आज जैसा घुटन-भरा जीवन जी रहे हैं, उस के विविध चित्र जितेन्द्र की कविता में मिलते हैं—

कहां तक समेटोगे
कहां तक लपेटोगे'

आज का कवि ईज़ीचेयर पर बैठ कर एक वर्ग विशेष की रुचि को पूरा करने के लिये उसके अभीष्ट कवि-चित्रों का अंकन नहीं करता। उसके पास इस साहित्यिक ऐयाशी के लिये समय ही नहीं। जिस प्रकार समय-चक्र ने उस की कामनाओं, धारणाओं एवं मान्यताओं को चकनाचूर कर डाला है उसी की प्रतिक्रियास्वरूप आज के कवि ने भी कविता के सभी मान, उसकी सभी परम्पराएं अस्वीकारते हुए पुरानी पीढ़ी की सभी मान्यताओं को उखाड़ फैंका है। जितेन्द्र का कहना है—

'मुझे नहीं चाहिये
पूरे सूर्य का आलोक'

क्योंकि वह फांक भर उजाले से ही संतृष्ट हो जाता है।

जितेन्द्र मुक्त-छन्द में लिखते हैं, जिस में तुक और लयताल रखने का प्रयास प्राय: दृष्टिगत होता है। विकासोन्मुख भाषा में अक्सर नई प्रतीक योजना इन की कविता की विशेषता है—

मैं शतरंज का खेल केवल

कभी बादशाह
कभी वज़ीर
और कभी प्यादा।'

आप हिन्दी के अतिरिक्त डोगरी में भी कविता लिखते हैं।

निर्मल विनोदी की काव्य-साधना वस्तुत: छठे दशक के मध्याह्न से शुरू होती है। परिवारगत आर्य-समाजी संस्कारों तथा राष्ट्र प्रेम की भावना ने ही बालक विनोदी को 'दो सितारों का जमीं पर है मिलन आज की रात' इस लोकप्रिय फिल्मी धुन पर गांधी जी तथा स्वामी दयानन्द पर कविता लिखने की प्रेरणा दी थी। यह बहुत पहले सन् ५७ की बात है और फिर किशोरावस्था को पार करते-करते इनकी काव्यसरिता में एक और धारा आ जुड़ी—कच्ची उमर के कच्चे किन्तु सहज एवं निश्छल प्रेम की। यह स्थिति भी चिरस्थायी न रही। विनोदी की कविता ने एक और करवट ली। उसने अपनी सभी संस्कारगत मान्यताओं को एकाएक नकार दिया। भले ही वे संस्कार अब भी बीच-बीच में इन के साधना-पथ पर कौंध जाते हैं। अपनी ही मान्यताओं एवं धारणाओं को नकारने का कारण जीवन के कटु यथार्थ के साथ साक्षात्कार के अतिरिक्त नये साहित्य का अध्ययन भी है।

इस प्रकार आप अपनी साधना के एकाधिक सोपानों को पार करके आज अपने और अपनी पीढ़ी द्वारा भोगे जा रहे यथार्थ को अपने काव्य-पट पर उतारने का प्रयास कर रहे हैं। हमारी सहयात्री पीढ़ी की विवशता से आवेष्टित सहज-निश्छलता की एक झलक देखिये—

'सबूत तो निर्दोष को भी
दोषी ठहरा देता है
और फिर ऐसा दोषी
जिस की मुट्ठियों में
सबूत नाच रहा हो'

विनोदी छन्दमुक्त शैली के साथ-साथ नवगीत सृजन का भी श्लाघ्य प्रयास कर रहे हैं। पुस्तकाकार में इनकी कोई कृति अभी तक प्रकाश में नहीं आई है।

जम्मू के काव्य-साधकों के इस विस्तृत विवरण को समाप्त करने से पूर्व उन कवियों का उल्लेख किये बिना यह लेख अपूर्ण कहा जाएगा, जिन की लेखनी से यदा-कदा, किन्तु श्रेष्ठ काव्य रचनाएं प्रसूत होकर जम्मू की काव्य-वाटिका की सुरभि को प्रगुणित करती हैं।

सुश्री शंकुतला सेठ तीसरे-चौथे दशक में जम्मू के साहित्य-मंच पर बहुचर्चित रही हैं। आप उषा नामक उच्चस्तरीय पत्रिका के सम्पादन के साथ सुन्दर कविताएं भी लिखती थीं। आप की कविता में छायावादी युग की भावगरिमा और स्रष्टा तथा सृष्टि के गहन रहस्य में झांकने की जिज्ञासा है। श्रेष्ठ प्रतिभासम्पन्न होते हुए भी लगता है आप व्यावसायिक व्यस्तता के कारण अधिक नहीं लिख पाई हैं।

सुश्री सुशीला तुली भी परम्परागत शैली में छायावादी भावुकता से भरी कविता लिखती हैं। आप की लेखनी भी पिछले कई वर्षों से लगभग मौन है।

श्री देवरत्न शास्त्री की प्रतिभा बहुमुखी है। कहानी, रेडियो रूपक तथा समीक्षा के अतिरिक्त आप श्रेष्ठ कविताएं भी लिखते हैं। छन्दोबद्ध और छन्दमुक्त, दोनों ही शैलियों में आप अभिव्यंजक, सशक्त एवं प्रवाहशील भाषा द्वारा अपने भावों में सहज संप्रेषणीयता लाने में सिद्धहस्त हैं। ऋतुसंहार का एक पद्यमय हिन्दी रूपांतर प्रकाशित कर चुके हैं। पिछले कुछ समय से आप की लेखनी कविता की ओर अपेक्षता अधिक उन्मुख है।

डा० विद्यानाथ गुप्त की कविताएं कभी-कभी जम्मू रेडियो से प्रसारित होती हैं। आप 'हालावाद' से प्रभावित परम्परागत शैली में लिखते हैं। गेयता और पदलालित्य आपकी विशेषता है।

श्री सत्यपाल शास्त्री की कविता में एक ओर राष्ट्रीयता तथा दूसरी ओर खोखले आदर्शों का चित्रण मिलता है। आप परम्परा और आधुनिकता के समन्वय में विश्वास रखते हैं तथा मुक्त छन्द एवं छन्दोबद्ध, दोनों ही शैलियों में लिखते हैं।

डा० जनक गुप्ता ने भी कतिपय सुन्दर गीत लिखे हैं जो यदा-कदा रेडियो द्वारा सुनने को मिलते हैं। आप की कविता में विप्रलम्भ श्रृंगार, अध्यात्म तथा समाजगत अन्याय के प्रति विरोध के विविध स्वर सुनाई पड़ते हैं।

श्री मान भार्गव ने साहित्यिक जीवन हिन्दी कवि के रूप में आरम्भ किया था। खेद है कि आप भी क्षेत्रीय भाषा में लिखने के लोभ का संवरण न कर सके। पर लगता है हिन्दी को आप भूले नहीं हैं। आप की कविता में सामाजिक विषमताओं और प्रशासनिक अन्याय के प्रति विरोध का जो स्वर उभरता है वह निराशाभरी निरीहता लिये रहता है। श्रृंगार आप को प्रिय है, किन्तु उसे वर्तमान अश्रृंगारिक परिवेश में अधिक प्रश्रय देने की गुंजाइश कहां है।

सुश्री उषा 'व्यास' छवि गत कुछ वर्षों से साधनारत हैं। आप की कविता नई पीढ़ी की अथाह वेदना और जर्जरित-जीवन-मानों के प्रति अत्यंत उष्ण एवं तीव्र उच्छ्वास लिये रहती है।

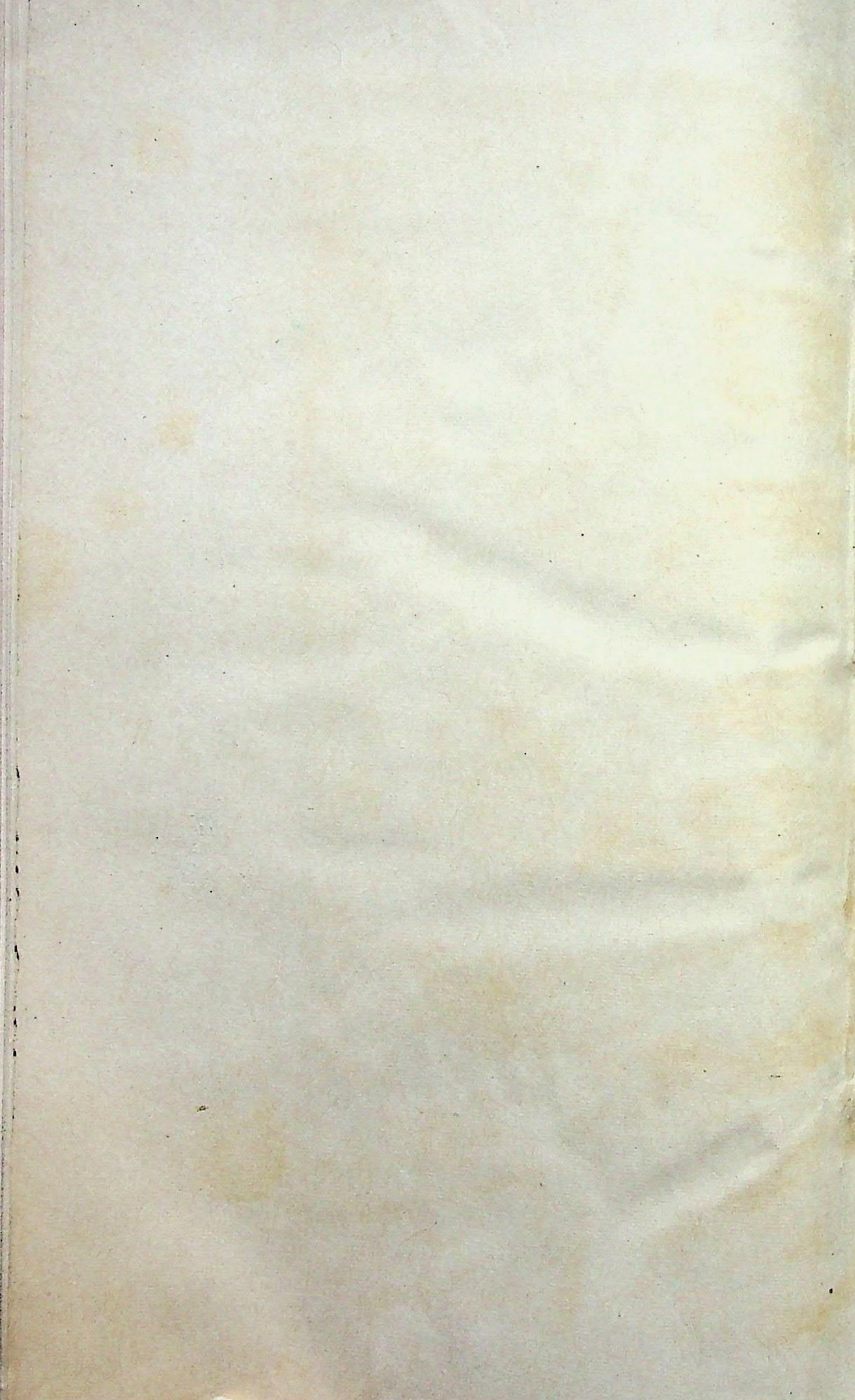
इधर सातवें दशक के आरम्भ से ही अनेक युवा-प्रतिभाएं काव्य-साधना में अग्रसर हुईं जिन में कुछ उल्लेखनीय नाम इस प्रकार हैं—

सर्वश्री जवाहर रैणा, जगमोहन, अशोक जेरथ, बलनील देवम्, मनजीत सिंह कामरा, सुभाष शर्मा, भुवनपति शर्मा, नीलम खोसला, सिम्मी गुप्त, तथा सुशांत चौधरी आदि।

यह था जम्मू की गत तीस वर्षों की हिन्दी कविता का इतिवृत्त। जिस प्रकार अपनी इस दुःखद यात्रा में आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की विपरीत परिस्थितियों में यातनाओं को झेल कर इस ने अपनी आइडेण्टिटी को बनाए रख कर अपने को गतिरोध से बचाया है इस के पीछे है यहां के साहित्य-साधकों की अपार सहनशीलता और अदम्य साहस।

यहां क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य को जो स्नेह-दुलार मिला है उस का खेद नहीं, खेद है तो इस बात का कि हिन्दी प्रदेशों और बड़े-बड़े शहरों के हिन्दीदान हिन्दी को अपनी बपौती समझते हैं। जम्मू के साहित्यकारों पर अहिन्दी-प्रदेशीयता का लेबल लगा कर इन के प्रति 'नाक-भौंह-सिकोड़' व्यवहार बनाए हुए हैं और इस पर भी हम जम्मू के हिन्दी लेखक जो कदम-कदम बढ़ते जा रहे हैं, इस के पीछे हिन्दी-सेवा की निष्काम लगन को छोड़ और कुछ नहीं। वही 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' वाली बात। हम सुफल-प्राप्ति से वंचित भले ही रहें पर हमारी सद्कर्म की प्रवृत्ति को हम से कोई छीन नहीं सकता। सफर जारी रहेगा, यात्री बढ़ते जायेंगे।

————





A Publication of
J&K Academy of Art, Culture & Languages, Jammu.